॥ श्रीहरिः ॥ 387

प्रेम-सत्संग-सुधा-माला

गीताप्रेस, गोरखपुर

ह्लादिनीशक्ति रहती है। श्रीकृष्णकी संधिनीशक्ति ही वृन्दावनके रूपमें प्रकट होती है। चितिशक्ति योगमाया आदि हैं। ह्लादिनी श्रीराधा हैं अर्थात् श्रीकृष्ण जो सत्-चित्-आनन्द हैं, वे ही वृन्दावन-बने हुए हैं, वे ही योगमाया बने हुए हैं और वे ही श्रीराधा बने हुए हैं तथा श्रीराधा ही अनन्त गोपियाँ बनी हुई हैं। और यही सत्-चित्-आनन्दमयी लीला अनादि कालसे चल रही है एवं अनन्त कालतक चलती रहेगी।

वृन्दावन, योगमाया, श्रीराधा एक ही श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ तीन रूपोंमें हैं। असली बात तो श्रीकृष्ण जानें, पर मैंने एक दिन निवेदन किया था कि उसी सत्-चित्-आनन्दमयी लीलाकी छाया यहाँ पड़ती है और वही छाया इस विश्वके रूपमें दीखती है। यहाँके स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, वन, पर्वत, समुद्र, नदी—सब उसी दिव्य सत्-चित्-आनन्दमय दिव्य राज्यकी छाया हैं।

७३—व्रजप्रेमकी प्रत्येक लीलामें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वहाँ किसी भी गोपीके मनमें अपने सुखकी बिलकुल इच्छा नहीं रहती तथा वहाँके जो श्रीकृष्ण हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि उनको सुख नहीं चाहिये। वहाँ उनकी भगवत्ता छिपी रहती है तथा प्रत्येक गोपी यह समझती है कि श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ हैं, इनको सुख होता है, दुःख होगा। व्रजसुन्दरियोंकी चेष्टाओंमें यह भाव नहीं होता कि हमें सुख मिले; अपने-से-अपने जो प्राणवल्लभ हैं, उनको सुख कैसे मिले—केवल यही इच्छा रह जाती है।

यह भी यहाँ समझनेकी बात है कि वृन्दावनमें जो चिन्मयलीला होती है, वहाँ जो गोपियोंके पति हैं, वे भी हाड़-मांसवाले नहीं हैं, वे तो श्रीकृष्णकी ही एक-एक मूर्ति हैं। पति-रूपमें भी श्रीकृष्ण ही रहते हैं। पर पतिसे इनका कुछ भी कभी भी बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं होता।

यहाँ तो गोपियाँ पतितकका त्याग करके श्रीकृष्णको भजती हैं, यह लीला दिखलानी है, इसीलिये यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही उनके पति हैं, पर उस रूपमें उनके साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। वह लीला कुछ इतनी विचित्र है कि वाणीसे समझायी नहीं जा सकती। किसी दृष्टान्तसे भी समझाना बड़ा कठिन ही नहीं, असम्भव-सा है। मान लीजिये, जैसे स्त्री-पुरुषका एक जोड़ा है। उनका गुप्त-रूपसे विवाह हो जाय, पर इस बातका किसीको पता लगे नहीं। अब स्त्री तो पतिव्रता है, वह पर-पुरुषका मुँह भी नहीं देख सकती, बात करना तो दूर रहा। अब वह प्रेममें पागल हो जाय। लोगोंको तो यह मालूम नहीं कि इसका विवाह हो गया है। इसलिये उसी पागलपनकी अवस्थामें उसका विवाह फिरसे किसीके साथ कर दिया जाय। उसे पता भी न चले। कुछ दिन बाद उसे जब कुछ होश होता है, तब क्या वह अपने पहले पतिको छोड़कर दूसरेका मुँह भी देख सकती है ? कुछ-कुछ इस दृष्टान्तसे श्रीगोपीजनोंके प्रेमके स्वरूपका अनुमान हो सकता है। असली बातको समझना, बिना दर्शन हुए समझना कठिन है।

बहुत-सी ऐसी बातें हैं कि जिनकी दिव्यताको मलिन मनका प्राणी कदापि समझ ही नहीं सकता। आप पढ़ चुके होंगे भागवतमें—श्रीकृष्ण किसी गोपीका चुम्बन करते हैं, किसीका हृदय स्पर्श करते हैं। पर ये सभी लीलाएँ इतने परेके स्तरकी हैं, इतने ऊँचे दिव्यराज्यकी हैं कि जबतक मनुष्यकी सारी कामवासना सर्वथा मिटकर मन एवं आँखें दोनों चिन्मय न हो जायँ, तबतक वह समझ ही नहीं सकता कि असलमें क्या रहस्य है। संसारमें भी देखा जाता है कि पिता अपनी छोटी पुत्रीका मुख चूमता है। बहिन भाईका हृदयस्पर्श करती है। बेटीको बाप हृदयसे चिपका लेता है; पर क्या वहाँ कभी कामविकारकी

कल्पना भी होती है? फिर सच्चिदानन्दमय दिव्य पवित्रतम भगवत्-प्रेम-राज्यमें कितनी निर्विकार तथा सर्वथा भगवन्मयी लीला होती होगी, इसका जरा अनुमान करना चाहिये। वहाँ स्त्रीका अङ्ग दीखतामात्र है, असलमें तो वह सर्वथा सब ओरसे चिदानन्दमय है। वहाँ जडताकी, कामकी तो गन्ध भी नहीं है। वहाँ उस लीलाके पढ़नेका इतना माहात्म्य है कि पढ़नेवाला यदि श्रद्धासे पढ़ेगा तो उसका काम-विकार नष्ट हो जायगा।

इस व्रजलीलाका भी एक रूप नहीं है। एक-से-एक बढ़कर ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी लीला होती है। अब कई लीलाएँ इतनी मधुर होती हैं कि उनमें श्रीकृष्ण अपनी भगवत्ताको सर्वथा छिपाकर लीला करते हैं। उन बातोंको पढ़कर साधारण आदमी तो यही समझेगा कि यह तो किसी कामी पुरुषकी बात है; परंतु वह है असलमें उन भगवान्‌की लीला कि जिनके संकल्पसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते हैं। वहाँ ऐश्वर्य सर्वथा छिप जाता है, वहाँ तो वे बैठकर श्रीराधाके लिये रोते हैं। 'हाय रे, भगवान्‌की स्मृति नहीं छूटे'—इस प्रकार जिनकी स्मृतिके लिये इतनी व्याकुलता ऋषि-मुनियोंको होती है, वे ही प्रभु निरन्तर श्रीराधाजीके लिये व्याकुल होते, रोते रहते हैं।

७४—जैसे भी हो, पूर्ण चेष्टा करके मनुष्य इस संसारको भूलकर श्रीकृष्णकी अचिन्मयी लीलामें मनको तन्मय कर दे, तभी वास्तवमें जीवनकी कृतकृत्यता है। और यह तभी होगा, जब ठीक-ठीक पूरी लगनके साथ इसमें जुड़कर साधनामय जीवन बना लिया जाय।

व्रज-प्रेममें मधुरभावकी सेवाका अधिकार पानेके लिये दो तरहकी साधना करनी पड़ती है। एकको बाह्य साधना कहते हैं और दूसरीको आन्तरिक साधना। बाह्य साधनाका रूप यह है कि इस शरीरके द्वारा

जो पाञ्चभौतिक है, निरन्तर जप, कीर्तन, श्रवण, पूजन आदिमें मनुष्य लगा रहे, सांसारिक झंझटोंमें कम-से-कम समय लगाये। आन्तरिक साधनाका यह रूप है कि मनसे दिव्य चिन्मय शरीरकी भावना करके उस शरीरके द्वारा निरन्तर चौबीसों घंटे सेवामें जुटा रहे। यही करते-करते जब प्रेम प्रकट हो जाता है, तब भगवान् भावनाको ही असली बनाकर दिखा देते हैं। दूसरे शब्दोंमें, तब भगवान्‌की वास्तविक चिन्मयी लीला प्रकट हो जाती है तथा जब पाञ्चभौतिक शरीर छूट जाता है, तब फिर प्रेमके और भी ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास होता है और अधिकारके अनुसार साधक जब प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें पहुँचता है, तब उसे सेवाका अधिकार मिलता है। यही वैष्णव आचार्योंका, शास्त्रोंका एवं प्रेमी संतोंका सिद्धान्त एवं अनुभव है।

यहाँ जिस दिव्य शरीरकी भावना की जाती है, वही दिव्य शरीर सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममें योगमायाके द्वारा पहुँचा दिया जाता है। वह शरीर किसी गोपीके गर्भसे जन्म धारण करता है तथा फिर थोड़ी-सी उम्र होते ही श्रीकृष्णके दर्शन होकर प्रेमकी ऊँची-ऊँची अवस्थाएँ—प्रेमके बाद स्नेह, स्नेहके बाद मान, मानके बाद प्रणय, प्रणयके बाद राग, रागके बाद अनुराग, अनुरागके बाद भाव और भावके बाद महाभाव इन अवस्थाओंमें पहुँचते ही श्रीकृष्णकी वंशी बजती है तथा वह गोपी घर-द्वार छोड़कर सदाके लिये निकल पड़ती है। वहाँ श्रीकृष्णकी रासलीलामें पहले-पहल उसे सेवाका अधिकार मिलता है। उसके बाद सदाके लिये वह साधक नित्य लीलामें सम्मिलित हो जाता है। यह एक क्रम है—जो गोपीभावसे साधना करते हैं, उनके लीलामें सम्मिलित होनेका क्रम है।

जो सखाभावसे सेवाकी भावना करते हैं, उनका क्रम भी मिलता-

जुलता ही होता है, पर सखागण रासलीलामें अधिकार नहीं पाते, उन लोगोंकी अन्तिम स्थिति वनमें गाय चराने, साथ खाने, मौज उड़ाने, कंधे चढ़नेतक ही है। इनका क्रम भी ऐसा होता है कि बाहर एवं अन्तर साधना करते-करते जब प्रेम प्रकट होता है, तब वे भगवान्‌के सखा बनकर यहीं लीला शुरू कर देते हैं, फिर उनका पाञ्चभौतिक शरीर छूटनेपर व्रजके किसी गोपके घर वे बालकके रूपमें जन्म लेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक भावकी साधनाका यह क्रम है, पर इतना ही हो, ऐसी बात नहीं है, यह तो एक नियम है। श्रीकृष्णके चाहनेपर तो वे जो चाहें, वही नियम बन सकता है, पर प्रायः इसी तरहसे साधकलोग साधनामें अग्रसर होते हैं।

७५—आपपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है कि आपके मनमें व्रजप्रेमकी बात सुननेकी इच्छा होती है। आप निकुञ्ज-लीला सुनना चाहते हैं और मैं सुनाऊँ—इससे बढ़कर मेरा एवं आपका सौभाग्य और क्या हो सकता है? पर मैं जो सुनाने जा रहा हूँ, वह सबके सुननेकी वस्तु सर्वथा नहीं है। मेरी तो यह धारणा है तथा अनुभवी संतोंसे भी बार-बार यह सुन चुका हूँ कि जिसके मनमें तनिक भी कामविकार है, उसे इसे कहने-सुननेका अधिकार ही नहीं है। अतः कम-से-कम इस लीलाके सम्बन्धमें सावधानी रखेंगे। मैं सच्चे हृदयसे कहता हूँ कि जिसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीराधाकृष्ण नहीं हो गये हैं। जिसके मनमें कभी भी श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाकी मधुमयी लीलाओंको सुनकर किसी प्रकार भी तनिक भी कोई-सा भी संदेह होता हो, जो प्रिया-प्रियतमके प्रेमके लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करनेके लिये तैयार न हो, जिसका श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाकी अपार, असीम, अनन्त भगवत्तापर, उनकी अपार असीम कृपापर दृढ़, अटूट, अडिग, अचल,

अटल विश्वास नहीं हो गया हो, उसे ये बातें जो मैं मधुर लीलाके सम्बन्धमें आगे लिख रहा हूँ, कभी नहीं पढ़नी चाहिये।

ऊँचे स्तरकी एक लीला होती है और वह नित्य चलती रहती है। वह है परकीया भावकी लीला। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही विलक्षण प्रेमलीला होती है तथा श्रीराधारानीका प्रेम कितना ऊँचा है, यह दिखलाया जाता है। इस परकीया भावकी लीलामें होता क्या है कि भगवान् सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण अनन्त रूपोंमें प्रकट होकर सभी गोपियोंके एक-एक पति बनते हैं तथा राधारानीके भी एक पति श्रीकृष्ण ही अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। फिर वहाँकी प्रत्येक लीलाके द्वारा सिद्ध किया जाता है कि पवित्र प्रेम क्या वस्तु है, प्रेममें कितना त्याग होता है। सबसे कठिन जो आर्यपथ, कुलधर्म है, उसका त्याग भी श्रीराधा एवं श्रीगोपीजन सहज ही कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठाकी लीला है तथा प्रेमप्राप्त कतिपय वैष्णव आचार्योंने एक-से-एक बढ़कर लीलाएँ लिखी हैं और अनुभव करके लिखी हैं। अवश्य ही यह इतनी ऊँची प्रेममयी लीला है कि सबके कहने-सुननेकी चीज बिलकुल नहीं है। यह इतनी ऊँची बात है तथा इसमें इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि असलमें तो श्रीकृष्णकी कृपासे ही कोई बिरला प्रेमी साधक इसे थोड़ा-बहुत समझ सकता है।

७६—व्रजप्रेममें केवल त्याग-ही-त्याग है। उसमें रत्तीभर भी कहीं अपने सुखकी वासना नहीं है। यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही राधारानी बने हुए हैं तथा श्रीराधारानी ही अनन्त असंख्य गोपियाँ बनती हैं। वहाँ श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनोंमें तिलभर भी कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वहाँ सब कुछ सर्वथा सच्चिदानन्दमय है, श्रीकृष्ण ही उतने रूपोंमें प्रकट रहते हैं, फिर भी लीलाकी सिद्धिके लिये सब गोपीजनोंका

अपना-अपना एक भाव रहता है। श्रीकृष्णको सभी अपना प्राणवल्लभ मानती हैं, परंतु किसी भी गोपीके हृदयमें अपने सुखकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती, सभीकी चेष्टा इसीलिये होती है कि कैसे हमारे प्रियतम प्राणवल्लभको सुख हो। तथापि सबकी सेवा करनेका अलग-अलग ढंग होता है और सबका ढंग मिलकर इतनी सुन्दर विलक्षण लीला बन जाती है कि उसकी कोई उपमा नहीं, कोई दृष्टान्त नहीं कि उसे समझा जाय।

प्रेमका वर्णन करते हुए वैष्णव आचार्य जो कहते हैं, वह संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) जहाँ अपनी इन्द्रियोंके सुखकी वासना होती है, वहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ काम है।

(२) जहाँ एकमात्र श्रीकृष्णको ही सुख मिले, यह आन्तरिक इच्छा है, उसका नाम प्रेम है।

(३) काम और प्रेमको इसी कसौटीपर कसना चाहिये कि काममें प्रत्येक चेष्टा होगी इस उद्देश्यसे कि हमें सुख मिले, अधिक-से-अधिक हमें आनन्द मिले; और प्रेममें प्रत्येक चेष्टा इस उद्देश्यको लेकर होगी कि श्रीकृष्णको सुख हो, चाहे हमें सदा ही दुःख क्यों न मिले।

(४) उदाहरणके लिये एकमात्र श्रीगोपीजन ही हैं जिनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं है और उनका समस्त व्यवहार ही श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेवाला होता है।

(५) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके लिये लोकधर्मका परित्याग कर देती हैं।

(६) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये वेदधर्मका परित्याग कर देती हैं।

(७) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये अपनी देहके सुखका त्याग कर देती हैं।

(८) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये समस्त संसारके व्यवहारको भी आवश्यकता पड़ते ही छोड़ देती हैं।

(९) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये लज्जाका सर्वथा परित्याग कर देती हैं।

(१०) श्रीगोपियोंमें श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इतनी प्रबल उत्कण्ठा रहती है कि वे अपना धैर्य भी छोड़ देती हैं।

(११) श्रीगोपियाँ अपने-आपतकको भी भूलकर केवल श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं।

इस प्रकार उनके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्णका सुख ही उद्देश्य होता है। यहाँतक कि वे अपने कुलधर्मका भी त्याग कर देती हैं; इसलिये कि हमारे प्रियतमको सुख पहुँचे। उनका श्रीकृष्णके पास जाना इसलिये नहीं होता कि वहाँ जानेसे हमें सुख मिलेगा, बल्कि इसलिये कि श्रीकृष्णको हमारे जानेसे सुख मिलेगा।

इस गोपीप्रेमके राज्यमें सब कुछ सच्चिदानन्दमय होते हुए भी श्रीगोपियोंके कई भेद हैं। मुख्य चार भेद हैं—

(१) नित्य-गोपियाँ अर्थात् श्रीराधारानी, उनकी सखियाँ, दासियाँ एवं सहचरियाँ; श्रीचन्द्रावली एवं उनकी दासियाँ, सखियाँ, सहचरियाँ आदि। ये अनादि कालसे हैं। उनमें कोई हेर-फेर अब हुआ हो या होगा—यह बात बिलकुल नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अनादि कालसे हैं, वैसे श्रीराधा एवं नित्य—सखियाँ भी अनादि कालसे हैं और अनन्त कालतक रहेंगी। इनके अतिरिक्त जो भी गोपियाँ हैं, वे सब-की-सब साधनासे वहाँ पहुँची हुई हैं। कोई कभी, कोई कभी, इसी प्रकार

साधनासे सम्मिलित हुई हैं। उनमें—

(२) कुछ तो श्रुतियाँ हैं, जो साधना करके गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

(३) कुछ देवताओंकी स्त्रियाँ हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

(४) कुछ ऋषि हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपीदेह पाकर सम्मिलित हुए हैं। अब आगे भी जो मनुष्य, जो साधक साधना करेगा और साधनामें सफल होगा, वह भी गोपीदेह पाकर उस लीलामें सम्मिलित होगा।

अब तीन तो हैं साधनाके द्वारा बनी हुई गोपियाँ और एक प्रकारकी हैं नित्य-गोपियाँ। इन्हीं नित्य-गोपियोंके साथकी अत्यन्त विलक्षण लीला नित्य चलती रहती है और उसीके किसी एक अंशमें, जो साधना करते हैं, वे प्रवेश करते हैं। जितने ऊँचे अधिकारी होते हैं, उतनी ही ऊँचे अंशकी लीलामें प्रवेश करते हैं, ऊँचे स्तरोंकी लीलाओंको देखकर कृतार्थ होते हैं तथा उसमें स्वयं भी सेवाके अधिकार पाकर जीवन सफल करते हैं। अब जो नित्य-सखियाँ हैं, दासियाँ हैं, तथा स्वयं श्रीराधारानी एवं श्रीचन्द्रावलीजी हैं, इन सबका अलग-अलग भाव होता है अर्थात् एक-से-एक बढ़कर श्रीकृष्णका प्रेम इनमें होता है। सबसे ऊँचा एवं सर्वोत्तम जो प्रेमका रूप है, उसका विकास एकमात्र श्रीराधामें ही हुआ है।

इस प्रेम-लीलामें स्वकीया एवं परकीया—ये दो भाव होते हैं। स्वकीया सर्वथा निकुञ्जकी लीला है, महावाणीमें इसीका संक्षिप्त वर्णन है। परकीयामें गोष्ठ एवं निकुञ्जकी दोनों लीलाएँ सम्मिलित रहती हैं। अस्तु, इस गोष्ठनिकुञ्जकी सम्मिलित लीलामें जितनी गोपियाँ हैं, सब

परकीयाभावकी हैं। उस दिन मैंने आपसे कहा था कि स्वयं श्रीकृष्ण ही अपनी एक-एक छायाका निर्माण करके उन गोपियोंके एवं स्वयं श्रीराधारानीके भी स्वामी बनते हैं तथा फिर वहाँ अति पावनी, अति उच्च स्तरके त्यागकी लीला होती है। श्रीगोपीजन सभी कुछका त्याग श्रीकृष्णके लिये कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठा है कि प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके लिये सब कुछका त्याग बिना हिचकके हो जाय।

अब एक बात याद रखिये—जैसे मूलमें एक श्रीकृष्ण हैं, वैसे मूलमें केवल एक राधारानी ही हैं। पर राधारानी ही स्वयं श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ललिता, विशाखा, चित्रा एवं अनन्त सखियों-दासियों तथा चन्द्रावलीजीका रूप धारण कर लेती हैं। इसको कायव्यूह-निर्माण कहते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये, तरह-तरहकी लीला रच-रचकर सुख पहुँचानेके लिये राधारानी कायव्यूहकी रचना करके अपनेको अनन्त नित्य-गोपियोंके रूपमें अनादि कालसे प्रकट किये हुए हैं। इन नित्य-गोपियोंके यों तो अनन्त विभाग हैं, पर मुख्य विभाग श्रीराधा एवं चन्द्रावलीजीका है। श्रीराधा ही चन्द्रावलीजी हैं, पर इन दोनोंके दल अलग-अलग होते हैं। उस दिन जो खण्डिताके पद पढ़े थे, वह इन्हीं दो दलोंको लेकर होनेवाली लीलाका वर्णन था। श्रीकृष्ण जब राधारानीके पास आते हैं, तब चन्द्रावलीजी रूठकर मान करती हैं और जब चन्द्रावलीजीके पास श्रीकृष्ण चले जाते हैं, तब श्रीराधाजी रूठकर मान करती हैं। यही संक्षेपमें मानलीलाका सूत्र है। इसके अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर रूप हैं एवं अत्यन्त विलक्षण-विलक्षण लीलाएँ होती हैं; सबका वर्णन कोई भी कर ही नहीं सकता; क्योंकि ये अनिर्वचनीय और अनन्त हैं।

पर असलमें बात क्या है, यह भी समझ लेना चाहिये। श्रीकृष्णको

अधिक-से-अधिक सुख मिले, इसलिये श्रीराधाजी एवं श्रीचन्द्रावलीजी मान करती हैं; तथा मान करनेमें भी कितना ऊँचा-ऊँचा भाव होता है यह आपको श्रीराधाजीके प्रेमप्रलापकी कुछ बातें लिखकर कभी समझानेकी चेष्टा कर सकता हूँ। बीचमें यह लिखना भूल गया कि श्रीराधाकी सखियाँ ललिता आदि एवं श्रीचन्द्रावलीकी सखियाँ शैव्या आदि दोनों इस चेष्टामें रहती हैं कि कैसे श्रीकृष्णको अपनी-अपनी सखीके कुञ्जमें ले जायँ। श्रीचन्द्रावलीकी सखी राधारानीकी सखियोंकी दिव्य प्रेममयी वञ्चना करती रहती हैं और राधारानीकी सखियाँ चन्द्रावलीकी सखियोंकी वञ्चना करके श्रीकृष्णको ले जाती हैं। श्रीकृष्णको दोनोंको ही प्रसन्न करना पड़ता है। उसके सामने उसकी सुननी पड़ती है, उसके सामने उसकी।

यों तो यह लीला अनिर्वचनीय है और उसके किसी भी अंशको पूरा-पूरा समझना असम्भव है। पर पढ़-सुनकर जीवन पवित्र करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका दर्शन करनेके लिये ही साधना करनी पड़ती है तथा जिन संतोंको जो अनुभव हुआ है तथा ऋषि-महर्षि जो इस प्रकारकी लीलाएँ शास्त्रमें लिख गये हैं, उन्हींको आधार बनाकर मेरी तुच्छ बुद्धिमें जो आयेगा, लिख सकता हूँ।

यह लीला अनन्त है; जो भक्त जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसे उतने ऊँचे दर्जेकी लीलाका दर्शन होता है। उसी लीलामेंसे एक प्रकारकी लीलाका उदाहरण देकर आपको समझाता हूँ। श्रीकृष्णकी एक लीला है, जिसे दैनन्दिनी लीला कहते हैं, अर्थात् वह प्रतिदिन प्रातःसे लेकर राततक चौबीस घंटे एक-एक प्रकारकी होती है। इसीको अष्टकालीन लीला भी कहते हैं। स्वकीयाभावकी अष्टकालीन लीला दूसरी है। यहाँ परकीयाभावकी अष्टकालीन लीला बता रहा हूँ। इस

लीलाका बहुत संक्षेपमें यह रूप है—श्रीकृष्णकी उम्र चौदह वर्ष कई महीने रहती है। श्रीराधारानी उनसे कुछ छोटी रहती हैं। यही उम्र इनकी अनादिकालसे है और अनन्तकालतक रहेगी। इसी रूपको 'नित्य-किशोर एवं नित्य-किशोरी'का रूप कहते हैं तथा इतने ही रूपमें सदा रहकर यह लीला अनादिकालसे चलती आ रही है और अनन्तकाल-तक चलती रहेगी। पर विलक्षणता यह है कि यद्यपि आधार तो एक रहेगा, पर यह नित्य नयी-नयी होती रहती है और नयी-नयी ही होती रहेगी, क्योंकि असलमें यह जड-जगत्‌की लीला नहीं है, यह है स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूत लीला। अतएव इसमें नित्य नूतनता रहेगी ही।

सूत्ररूपसे ही संक्षेपमें लिख दे रहा हूँ, विस्तार तो सारा जीवन लिखा जाय तो भी समाप्त होनेका नहीं है। यह लीला ऐसे प्रारम्भ होती है—प्रातःकाल निकुञ्जमें श्रीप्रियाप्रियतम सोये रहते हैं, वृन्दादेवीके संकेतसे शुक-सारिका आदि पक्षी उन्हें जगाते हैं। जगानेके बाद सखियाँ दोनोंकी तरह-तरहसे सेवा करती हैं। सेवा होनेके बाद श्रीकृष्ण अपने घर चले जाते हैं तथा रातके समय मैया यशोदा जहाँ उन्हें सुला गयी थीं, वहीं जाकर चुपचाप सो जाते हैं। राधारानी भी घर आकर सो जाती हैं। फिर वहाँ श्रीकृष्णको मैया उठाती हैं। वे हाथ-मुँह धोकर दतुवन करते हैं और गोशालामें जाकर गाय दुहते हैं। फिर स्नान करते हैं। इधर सखियाँ राधारानीको उठाती हैं! मुँह धुलाकर दतुवन आदि कराकर उबटन लगाती हैं, फिर स्नान कराती हैं, फिर शृङ्गार करती हैं। इसी समय मैया यशोदाकी एक सखी राधारानीको बुलाने आ जाती है कि 'चलो, मैया तुम्हें रसोई बनानेके लिये बुला रही हैं।' उनकी साससे कहकर वह उन्हें ले जाती है, वहाँ राधारानी रसोई बनाती हैं। उनके

बनाये हुए भोजनको श्यामसुन्दर आरोगते हैं। राधारानीके द्वारा मैया रसोई इसीलिये बनवाती हैं कि इनके हाथकी रसोईको श्यामसुन्दर बड़े प्रेमसे खाते हैं तथा राधारानीको यह वर मिला हुआ है कि जो इसके हाथकी रसोई खायेगा, उसकी आयु बढ़ेगी। यशोदा सोचती हैं कि मेरा लल्ला बहुत दिन जीयेगा, इसीलिये नित्य इन्हें प्रार्थना करके बुलवाती हैं। इसके बाद मैया स्वयं बहुत तरहसे कहकर राधारानीको भोजन कराती हैं। फिर श्यामसुन्दर गाय चरानेके लिये वनमें जाते हैं तथा राधारानी एवं सखियाँ वनमें फूल चुननेके बहाने तथा सूर्य-पूजाके बहानेसे वनमें चली जाती हैं। वहाँ वृन्दादेवीका सारा प्रबन्ध ठीक रहता है। श्रीकृष्ण भी संकेतपर पहुँच जाते हैं। वहाँ मिलन होता है एवं ढाई पहरतक तरह-तरहकी लीला होती है। इसके बाद श्यामसुन्दर वनमें अपने सखाओंके पास चले जाते हैं और राधारानी घर लौट आती हैं। वे फिर श्यामसुन्दरके लिये रसोई बनाती हैं, स्नान करती हैं तथा शृङ्गार करके अपने महलकी अटारीपर चढ़कर श्यामसुन्दरके वनसे लौटनेकी बाट देखती हैं। सायंकाल होनेपर श्यामसुन्दर लौटते हैं, सखियोंकी भीड़ लग जाती है। मैया श्यामसुन्दरको गोदमें लेकर उनका मुँह चूमती हैं, शरीर पोंछकर स्नान कराती हैं, सखाओंके साथ उन्हें कुछ जलपान कराती हैं। श्यामसुन्दर गाय दुहने चले जाते हैं, गाय दुहकर लौटते हैं तथा नन्दबाबा आदि बड़े-बड़े गोपोंके साथ बैठकर भोजन करते हैं। भोजन करनेपर नन्दबाबाका दरबार लगता है, उसमें खूब नाच-गान होता है। नन्दबाबाके दोनों बगलमें बैठकर श्रीकृष्ण एवं दाऊजी तमाशा देखते हैं। फिर मैया श्यामसुन्दरको बुला लेती हैं तथा दूध पिलाकर एक कमरेमें सुला देती हैं। जब मैया चली जाती हैं तब श्यामसुन्दर चुपकेसे निकलते हैं और जहाँपर संकेत बँधा होता है, वहाँ जा पहुँचते

हैं। इधर राधारानीके पास मैया यशोदा बहुत-सी भोजन-सामग्री भेजती हैं। सखियाँ चालाकीसे श्यामसुन्दरका अधरामृतसिक्त प्रसाद भी ले जाती हैं। राधारानी एवं सखियाँ भोजन करती हैं, फिर शृङ्गार करके वृन्दादेवी दासीके पीछे-पीछे छिपी हुई वहाँ पहुँचती हैं। श्यामसुन्दर एवं श्रीराधाका मिलन होता है। वहाँ ढाई पहर राततक तरह-तरहकी लीलाएँ, वनविहार, जलविहार एवं भोजन आदि करके किसी कुञ्जमें प्रिया-प्रियतम विश्राम करते हैं। दूसरे दिन प्रातः उठनेकी लीला पहले लिखी ही गयी है। इस प्रकार प्रतिदिन अनादिकालसे यह लीला चल रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। जिन भक्तोंको इस लीलाके दर्शन हुए हैं, उन्होंने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है तथा बहुतोंने साधनाके लिये भी इस लीलाका विस्तार किया है। ग्रन्थ भरे पड़े हैं। अगणित साधक अबतक हो चुके हैं और न जाने किन-किनको दर्शन भी हो चुके हैं। जो वाणीमें आ सका है, उसका भी बड़े संकोच और संक्षेपसे उन्होंने वर्णन किया है। वास्तवमें तो यह सर्वथा अनिर्वचनीय लीला है। मन-बुद्धिकी सामर्थ्य नहीं कि इसे समझ सके। भगवान्‌की असीम कृपा प्राप्त करके लाखों-करोड़ों भक्तोंमें कोई बिरले भक्त इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि न जाने कितनी तपस्या करते हैं; तब कहीं जाकर इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अवश्य ही जो सर्वथा सम्पूर्ण रूपसे अपने-आपको श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें न्योछावर कर देता है, उन्हींकी कृपापर ही एकमात्र निर्भर हो जाता है, उसके लिये उनकी कृपासे ही इसका दर्शन सुलभ हो जाता है।

प्रतिदिन नयी-नयी लीला होती रहती है और जब साधकका मन फँस जाता है, तब तो एक लीला ही प्रतिदिन नयी हो जाती है, उनका

मन हटना ही नहीं चाहता। यह तो ध्यान होनेपरकी अवस्था है। मैं तो बहुत साधारण व्यक्ति हूँ—न मेरा मन स्थिर हुआ है, न ध्यान ही लगा है, न दर्शन हुए हैं। श्रीकृष्णकी कृपासे ये बातें सुनने-पढ़नेको मिल गयीं, यही मैं अपने लिये अत्यन्त सौभाग्यकी बात समझता हूँ तथा जीवनको पवित्र करनेके लिये एवं आप प्रेमसे सुनते हैं, इसलिये सुनाता हूँ।

७७— जैसे एक लीला फिल्मकी रील है—

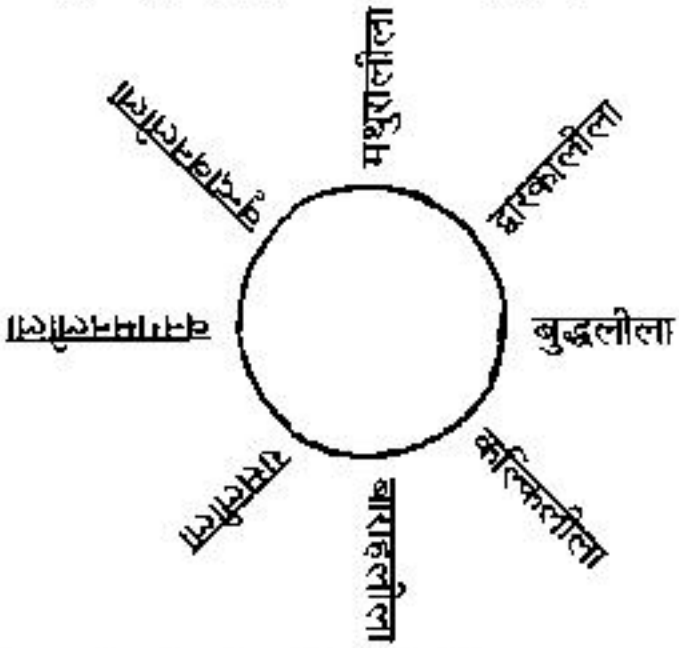

अनादिकालसे जो लीलाएँ हुई हैं और अनन्तकालतक जो लीलाएँ होंगी, वे सब-की-सब भगवान्‌के शरीरमें वर्तमानकी तरह फिल्मकी भाँति सजी रखी हैं। अब यही फिल्म घूमेगा और भक्तकी जो इच्छा होगी, जो लीला वह देखना चाहेगा, भगवान्‌की इच्छासे उसी लीलावाला हिस्सा घूमकर उसके सामने आ जायगा। जब उद्धव पहले मिले, तब उनका अधिकार कुछ कम था। इसलिये पहले वियोगकी लीला उन्हें दिखायी पड़ी। फिर श्रीगोपीजनोंका दर्शन होनेके बाद उससे भी परे एक अत्यन्त विचित्र लीला है, जिसमें यद्यपि संयोग-वियोग दोनों होते हैं, फिर भी जो अत्यन्त विलक्षण है; उसीमेंकी पहली,

संयोगकी लीला उन्हें देखनेको मिली और उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण तो यहीं हैं, यहाँसे कहीं गये ही नहीं। इससे और भी परेकी लीला थी; किंतु सबको उद्धवने थोड़े ही देखा था।

जब श्रीगोपीजनोंकी कृपासे वह अधिकार प्राप्त हुआ; श्रीकृष्ण एवं गोपीजनोंके प्रेमका प्रभाव कुछ-कुछ विदित हुआ एवं श्रीकृष्णकी कुछ अत्यन्त परेकी लीलाओंके दर्शन उन्हें होते हैं, तब उद्धवकी आँखें खुलती हैं और वे यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे विधाता! व्रजमें मनुष्यका शरीर मिलना तो दुर्लभ है; यदि मुझे तुम एक झाड़ी, लता, घासका तिनका ही बना दो तो फिर मेरा काम बन जाय। श्रीगोपीजनोंके चरणोंकी धूलि मुझपर उड़-उड़कर पड़े और मैं कृतार्थ हो जाऊँ, बस, इतनी दया कर दो—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥

कैसे होउँ द्रुम लता बेलि कुंजन बन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मो पै परछाहीं॥
सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय।
मोहन होहिं प्रसन्न जो, तौ बर मागउँ जाय॥
कृपा करि देहिं जो।

'हाय! मैं कैसे इस व्रजमें लता बन जाऊँ? अरे, कम-से-कम मुझपर श्रीगोपियोंकी परछाहीं तो इस प्रकार पड़ जायगी; बस, इतना ही मेरे लिये बहुत है। पर हे भगवन्! मैं क्या करूँ, यह तो मेरे वशकी बात नहीं है। मेरा अधिकार होता तो अभी यहीं लता बनकर मैं सदाके लिये रह जाता। हाँ, यदि मोहन, प्यारे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो जायँ तो मेरा काम बन जाय। मैं उनसे जाते ही यही माँगूँगा कि 'हे गोपीनाथ!

मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता; केवल इतनी कृपा कर दो कि मैं व्रजमें एक लता बन जाऊँ।' पर मेरा भाग्य, पता नहीं, ऐसा होगा या नहीं। पता नहीं श्यामसुन्दर मुझे यह वर देंगे कि नहीं।' यह दशा हुई थी तब, जब श्रीगोपीजनोंके दर्शन उद्धवको हुए। इतना होनेपर भी उद्धवको लीलामें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं प्राप्त हुआ; केवल दर्शन-दर्शन हुए, सो भी थोड़े-से अंशके ही।

यह बड़ी विलक्षण बात है कि ये व्रजलीलाएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। इनके विषयमें यह कहा ही नहीं जा सकता कि अमुक सबसे परेकी लीला है; क्योंकि सबसे परेकी लीला तो कोई तब कही जाय जब कि कोई सीमा हो। जब लीला अनन्त है, भगवान्‌की सर्वथा स्वरूपभूता है, तब वह नयी-ही-नयी होती जायगी, एक-से-एक विलक्षण आती जायगी; जितना ऊँचा अधिकारी होगा, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला आयेगी। शास्त्रमें आजतक जिन-जिन लीलाओंका वर्णन हुआ है, वह तो बहुत ही थोड़ा है। बहुत-सी ऐसी लीलाएँ हैं कि जिनका वर्णन होना ही असम्भव है तथा ऐसी भी बहुत-सी लीलाएँ हैं, जिन्हें आजतक किसीने नहीं देखा है। वैसा कोई ऊँचा भक्त हो जाय तो वह बिलकुल नयी और सबसे ऊँचे स्तरकी लीला भी देख सकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि जिसको जिस लीलाका दर्शन होता है, उसको यह प्रतीति नहीं होती कि 'हमें अब कुछ देखना बाकी रह गया है।' जैसे समुद्रमें डूब जानेपर ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर जल-ही-जल दीखता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय लीला-सिन्धुमें डूब जानेपर वह स्वयं लीलामें तन्मय हो जाता है, अब उसे यह ज्ञान थोड़े रहता है कि अभी कुछ बाकी है। पर जैसे समुद्रमें विचित्र-विचित्र इतनी बड़ी तरङ्गें उठती हैं कि जिनकी कोई तुलना नहीं; किसी वर्षमें

ऐसी तरङ्गें आती हैं कि वैसी हजारों वर्षके इतिहासमें नहीं मिलतीं। वैसे ही लीलासिन्धुमें भी ऐसी-ऐसी तरङ्गें आती हैं कि उनके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; फिर दूसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; तीसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर दूसरी फीकी पड़ जाती हैं; और चौथी प्रकट हुई कि तीसरी फीकी पड़ जाती हैं। तरङ्गोंकी कोई सीमा नहीं कि कब कैसी तरङ्ग आकर पहलेवालीको फीकी—छोटी बना दे। वैसे ही भगवान्‌की लीलाका कोई हिसाब नहीं। न जाने कब कोई ऐसी विलक्षण लीला भगवान् प्रकट करेंगे कि पहलेवाली सब-की-सब फीकी हो जायँगी। पर फीकीका यह अर्थ नहीं कि पिछली लीलासे मन उपरत हो जाय। भगवान्‌की प्रत्येक लीला ही अनन्त असीम सौन्दर्यसे भरी है। यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टिसे यह बात कही गयी है।

इसीलिये साधना इसी बातकी करनी पड़ती है कि चाहे जैसे हो, एक बार लीला-समुद्रमें जाकर डूब तो जायँ। फिर तो तरङ्गें आयेंगी ही। उद्धव भगवान्‌के सखा थे, उन्हें सख्यरसका आनन्द प्राप्त था। पर भगवान् तो कृपालु हैं। उन्होंने देखा—विचारा केवल सूखा ज्ञानका आनन्द एवं मेरे सखापनका आनन्द ही पाता है; अब इसे व्रज भेजकर कुछ इससे भी परेका जो आनन्द है, वह दिखलाऊँ। उद्धव गये। पहले तो उन्होंने ज्ञानकी चर्चा की; पर इसके बाद जब गोपियोंकी कृपासे गोपियोंकी विरह-लीलाके दर्शन हुए, तब उनके होश उड़ गये—हाय! मेरा जीवन तो व्यर्थ गया। उस पश्चात्तापका यह फल हुआ कि श्रीगोपियोंने और भी कृपा की तथा उन्हें उससे भी ऊँची एक लीलाका थोड़ा-सा अंश दिखलाया। इसके बाद और भी कृपा हुई होगी,

हमलोगोंको उसका क्या पता।

पर इतनी बात इसीलिये हुई थी कि उद्धवको श्रीकृष्णका साक्षात् हो चुका था। फिर भगवान्‌ने कृपा करके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंकी बातें उन्हें दिखायीं, सुनायीं। इसी प्रकार जैसे भी हो, एक बार श्रीकृष्णका साक्षात्कार मनुष्यको कर लेना चाहिये। फिर मुहर लग जाती है। जब एक बार श्रीकृष्णका साक्षात् हो जाता है, तब उसे 'पास' मिल जाता है कि अब यह हमारी लीला देख सकता है। वह जितना अधिक समय लगायेगा, उतनी ही अधिक लीला देख सकेगा। यहाँ समय लगानेका अर्थ है—लालसा बढ़ाना तथा श्रीकृष्णकी कृपापर अपने-आपको न्योछावर कर देना। वहाँ किसी राजाके सीमित महलमें देखनेकी वस्तुएँ थोड़े ही हैं। भगवान्‌की लीलावाले महलमें एक बार प्रवेश कर जानेके बाद फिर तो अनन्तकालतक देखनेपर भी वहाँकी वस्तुएँ समाप्त नहीं हो सकतीं।

७८—मान लीजिये एक बहुत बड़ा सम्राट् है। अब वह जिस समय दरबारमें रहता है, उस समय उसका रोब सबपर छाया रहता है। पर जब वह महलमें जाता है, तब बच्चा उसकी दाढ़ी पकड़कर खींचता है और रानी उसकी सेवा करती है। रानी यह जानती अवश्य है कि मेरे पति बड़े भारी सम्राट् हैं, पर वहाँ रानीके मनमें उसके सम्राट्पनका रोब नहीं रहता। वहाँ तो सम्राट् उसके प्रियतम पति हैं। सम्राट् हैं दरबारमें, महलमें तो उसके स्वामी हैं, उनपर उसका अधिकार है। राजदरबारका कानून, बैठना-उठना, बातचीत, हँसना-बोलना सब मर्यादासे सीमित रहता है; वहाँ सम्राट्पन (ऐश्वर्य) बात-बातमें रहेगा। पर महलमें सब नियम ही दूसरे होते हैं, वहाँ केवल घर-गृहस्थीका प्रेममय नियम होता है। भगवान्‌के बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे

भक्त कोई राजमन्त्रीकी तरह समस्त विश्वकी सँभाल रखते हैं, कोई बहुत बड़े अधिकारीकी तरह काम करते हैं, यहाँतक कि युवराजकी तरह, भगवान्‌के पुत्रकी तरह अधिकार रख सकते हैं, पर इतना अधिकार रखकर भी राजमहलकी निर्बाध प्रेममयी स्थितिका उनको कुछ भी पता नहीं हो सकता; वे राजरानी, पटरानीको देखतक नहीं सकते—जानतक नहीं सकते कि उनकी शकल-सूरत कैसी है ?

भगवान्‌का द्वारकाका रूप, मथुराका रूप, अयोध्याका रूप—ये सब ऐश्वर्यके रूप हैं। बहुत ऊँचे-ऊँचे संत उनकी इस ऐश्वर्यलीलामें स्थान पाकर भगवान्‌की तरह-तरहकी सेवा करते हैं। पर वृन्दावनका जो रूप है, वह राजमहलका रूप है तथा जैसे राजमहलकी एक दासी भी राजमन्त्रीको ही नहीं युवराजतकपर आज्ञा चला देती है, वैसे ही श्रीगोपीजनोंकी आज्ञा ब्रह्मा-विष्णु-महेशतकपर चलती है। अवश्य ही जिस प्रकार राजमहलमें दिन-रात आनन्दित रहनेवाली राजरानियोंको, दासियोंको यह अवकाश नहीं कि राज्यमें क्या हो रहा है यह देखें, वैसे ही मधुर लीलामें जिन्हें स्थान प्राप्त हो जाता है, उनको उस अनिर्वचनीय आनन्दसे छुट्टी ही नहीं मिलती कि जाकर देखें—बाहर राज्यमें क्या कैसे हो रहा है।

जो रात-दिन श्रीकृष्णको रोबमें बैठे देखता है, उसे क्या पता कि ये ही श्रीकृष्ण महलमें जाकर न जाने क्या-क्या करते हैं। वह तो दिन-रात दरबारी कानूनकी मर्यादामें रहता है। मर्यादाकी जो लीला होती है, उसीमें उसका मन पगा हुआ होता है।

जैसे साँझ हुई कि महलकी रानियाँ अटारीपर चढ़कर राज्यमें क्या हो रहा है—यह देखना चाहें तो देख सकती हैं, पर राज्यवाला कोई भी उनको देख नहीं सकता। वैसे ही जो मधुर लीलाके भक्त हैं, वे

कभी इस प्रापञ्चिक जगत्‌की लीला तथा ऐश्वर्यमयी लीलाको देखना चाहें तो देख सकते हैं। पर जो दिन-रात मिस्रीके रसको चख रहा है, उसका गुड़पर मन थोड़े ही चलता है। वह तो ऐसे विलक्षण आनन्दमें छका रहता है कि क्या पूछना। उसको ऐश्वर्यकी बात सुनने-कहनेकी भी फुरसत नहीं होती।

यद्यपि इसके लिये लोकमें कोई दृष्टान्त नहीं, फिर भी समझनेके लिये समझें कि जैसे राजाकी रानीकी स्पेशल गाड़ी कहीं जाय तो राज्यके मन्त्री आदि बड़े-बड़े अफसर सब प्रबन्ध करते हैं। सारा प्रबन्ध उन्हींका रहता है तथा उनके प्रबन्धमें ही स्पेशल जाती है। पर राजमन्त्री यह जानता है कि मेरा प्रबन्ध रहनेसे क्या हुआ, ये हैं तो राजमहलकी पटरानी। मेरा अधिकार तो ये इसलिये मानती हैं कि मेरा आदर बढ़े। पर वस्तुः मैं तो इनका चाकर हूँ। ठीक उसी प्रकार यदि मधुर लीलामें स्थान पाया हुआ कोई भक्त या उसका अवतार हो तो उसकी देख-रेख ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं बड़े-बड़े देवता ही करते हैं, पर यह समझते हुए कि ये तो हमारे प्रभुके प्रेमी हैं।

जो वैसे भक्त हैं या अवतार लिये हुए हैं, वे सब कानून मानते हैं; पर उनका यहाँका कानून मानना वैसे ही है, जैसे राजरानी सैर करने निकले और मन्त्रीके प्रबन्धमें उसे रहना पड़े। मन्त्रीने जहाँ जैसे रहनेकी, खानेकी व्यवस्था की है, उसी व्यवस्थाका राजरानी पालन करती है। पर यह सब करते हुए भी जैसे वह अपनेको इनके शासनसे सर्वथा परे समझती है, वैसे ही ऐसे जो कोई बिरले भाग्यवान् संत होते हैं अथवा अवतार लिये होते हैं, वे यहाँ इस संसारके कानूनका ठीक-ठीक पालन तो करते हैं, पर वस्तुतः वे अपनेको इस राज्यके शासकोंकी शासनव्यवस्थासे परे अनुभव करते हैं।

कल्पना कीजिये—सम्राट्को मजाक सूझे और इसकी इच्छासे कोई महलकी रानी वेष बदलकर राज्यमें घूमे। अब कोई राजाका चपरासी हो, उस बेचारेको तो पता है नहीं कि यह महलकी रानी है, वेष बदले हुए है। अब सम्राट्का रानीके लिये संकेत है कि 'तुमको वेष बदलकर जब दरबारमें हम रहें, तब आना होगा।' अब जब वह रानी जायगी, तब चपरासी तो उसके साथ भी वही व्यवहार करेगा, जो वह सबके साथ करता है। ठीक उसी तरह पहले आदेश लायेगा, तब दरबारमें प्रवेश करने देगा। वहाँ दरबारमें भी केवल सम्राट्को ही पता है कि यह तो हमारी रानी है, वेष बदले हुए यहाँ आयी है; और लोग तो जानते भी नहीं कि यह कौन है ? रानी वहाँ दरबारमें खूब ठाटसे, ढंगसे बात करती है; पर मन-ही-मन वह भी हँसती है तथा सम्राट् भी उसपर हुकुम तो चलाते हैं, पर मन-ही-मन खूब हँसते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी कभी-कभी लीला किया करते हैं।

एक बहुत सुन्दर लीला आती है—भगवान् द्वारकामें गद्दीपर बैठे हैं तथा कुछ ग्वालिनें दहीके मटके लिये दरबारमें आती हैं। भगवान् तो सब जानते हैं—पहले अदबसे बात होती है। फिर गोपियाँ कहती हैं कि 'चलो वृन्दावनमें, यहाँ गद्दीसे उतरो।' सारा दरबार ठक् हो जाता है कि भला, ये गँवारी ग्वालिनें कितनी बढ़-बढ़कर बातें कर रही हैं। श्रीकृष्ण थोड़ा और भी रंग जमाते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि 'हम राधारानीकी दासियाँ हैं; यदि सीधे मनसे नहीं चलोगे तो फिर दस्तावेज निकालना पड़ेगा !' (श्रीकृष्णने एक दस्तावेज लिख दिया था कि मैं आजीवन राधारानीका गुलाम रहूँगा।) श्रीकृष्ण खूब हुज्जत करते हैं कि हमें याद नहीं कि हमने कहाँ क्या दस्तावेज लिखा है। फिर गोपियाँ दस्तावेज निकालकर श्रीकृष्णकी सही दिखलाती हैं और गद्दीसे उतार

देती हैं। सारा दरबार चकित रह जाता है। श्रीकृष्ण पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। अब सोचिये, वृन्दावनके महलकी दासी उनकी इच्छासे ही दरबारमें आती है तथा तरह-तरहकी लीला करती है, पर लीला देखकर यह अनुमान भी नहीं हो सकता कि ये ही राजराजेश्वर श्रीकृष्ण वृन्दावनकी गोपियोंके दास हैं। ये अप्रकट लीलाएँ प्रेमी भक्त संतोंके नेत्रगोचर होती हैं, ग्रन्थोंमें पूरी नहीं पायी जातीं।

और ये लीलाएँ कुछ इतनी ऊँची हैं कि मन जबतक बिलकुल पवित्र नहीं हो जाता, तबतक इनके रहस्यका अनुमान लगाना भी बड़ा ही कठिन होता है। किसी भी दृष्टान्तसे इसके वास्तविक रहस्यको समझा नहीं जा सकता।

७९—भगवान्‌की लीलाएँ अनन्त हैं। उनमें किसीमें भी मन लग जानेपर तो महीने-के-महीने बीत जाते हैं, एक ही ध्यान बँधा रह जाता है। पता ही नहीं लगता कि क्या हो रहा है। समाधि हो जाती है। परंतु जबतक ऐसी अवस्था नहीं हो जाती, तबतक चञ्चल मनको वशमें करनेके लिये दस-बारह लीलाएँ चुन लेनी चाहिये तथा खूब कड़ाईसे समय बाँध लेना चाहिये कि इतने समयसे लेकर इतने समयतक यह लीला, फिर यह लीला, फिर यह। इस प्रकार जागनेसे सोनेतक मन-ही-मन चिन्तनका तार चलता रहे। बाहर तो सुन रहे हैं, पोथी पढ़ रहे हैं, किसीसे बात कर रहे हैं अथवा बैठकर नाम-जप कर रहे हैं, पर भीतरका काम भी चलते ही रहना चाहिये। खूब चेष्टा करनेसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ऐसा बड़ी आसानीसे हो सकता है।

वैष्णव-सिद्धान्तका तो यह एक निचोड़ है कि भक्त भगवान्‌से अपना एक सम्बन्ध जोड़ ले। भगवान् हमारे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूँ। भगवान् हमारे सखा हैं, मैं उनका मित्र हूँ। भगवान् हमारे पुत्र हैं,

मैं उनका पिता हूँ। भगवान् हमारे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ। भगवान् हमारे प्रेमास्पद प्राणनाथ हैं, मैं उनकी प्रेयसी हूँ। कहनेका अभिप्राय यह है कि जो सम्बन्ध प्यारा लगे, मनको खींचे—बस, उसीको एक बार दृढ़ करके जोड़ ले और फिर ठीक उसी भावके अनुसार चौबीसों घंटे सेवामें लगा रहे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, जिस क्षण कोई उनसे सम्बन्ध जोड़ता है, ठीक उसी क्षण वे उसके उसी सम्बन्धको स्वीकार करके उसके लिये वही बनकर आनेके लिये तैयार हो जाते हैं। विलम्ब तो होता है हमारी उत्कण्ठाकी कमीके कारण। यही उत्कण्ठा, जैसे-जैसे भजन-स्मरण बढ़ता है, वैसे-वैसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर बढ़ने लगती है और जिस क्षण उत्कण्ठा पूरी हुई कि उसी क्षण वही बनकर भगवान् उसके सामने प्रत्यक्ष आ जाते हैं और फिर उस दिनसे वह भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी गणनामें आ जाता है।

लीलाचिन्तन करते-करते बीचमें भगवान्‌की कृपासे कई विचित्र-विचित्र घटनाएँ हो जाती हैं। मान लें, आप ध्यान कर रहे हैं, भोजनकी लीला चल रही है। बड़े, पकौड़ी, साग एवं तरह-तरहकी मिठाइयाँ मन-ही-मन परस रहे हैं और भावना कर रहे हैं—श्रीकृष्णके भोजन कर लेनेके बाद अब मुझे प्रसाद मिला है, उसे मैं खा रहा हूँ। अब वहाँ मनमें खानेका चिन्तन हो रहा था, पर ठीक वही मिठाई यहाँ इस मुँहमें आ जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि आज ध्यान नहीं हुआ; आज थोड़ी देरके लिये प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

कभी-कभी भक्तोंको ऐसा हुआ है कि भावनासे खीर बना रहे हैं। वह गरम ज्यादा थी, चूल्हेसे उतारते समय हाथपर पड़ गयी। वहाँ भान हुआ कि अँगुली जल गयी और खीरका बर्तन हिलकर गिर गया। अब हो तो रहा था ध्यान; पर ठीक खीरका गरम कटोरा हाथमेंसे गिर

जायगा और हँसते हुए भगवान् प्रकट हो जायँगे। ध्यानमें ही भक्त चूल्हेपर खीर बना रहा था, लकड़ी जल रही थी। खीर उतारी, कटोरेमें ढाली, कटोरेको उठाया, उठाते ही अँगुलीपर पड़ी, अँगुली हिली, हिलनेसे कटोरा गिर गया। आँख उसी समय खुल जाती है तथा देखता है कि एक कटोरेमेंसे खीर गिर गयी है और भगवान् हँसते हुए सामने खड़े हैं।

मधुर भावके, गोपीभावके संतलोग तो विचित्र-विचित्र तरहकी लीला करते हैं। वहाँ तो बड़े-छोटेका संकोच ही नहीं। कभी चपत लगा देते हैं। श्रीकृष्ण चपत खाकर रूठ जाते हैं। अब वे गोपी-भावापन्न संत उन्हें मनाते हैं। मनाते समय श्यामसुन्दर तरह-तरहकी शर्तें पेश करते हैं। यह ला दो तो मानकर फिर तुम्हारे साथ खेलूँगा। वहाँ अत्यन्त सुन्दर लीला हुई। अब उसमें कुछ श्यामसुन्दरको वह लेकर देने जा रहे हैं। वह चीज तो मानसिक थी, पर आँख खुल जाती है और वे देखते हैं कि वही चीज यहाँ इस हाथमें है।

एक बार दो भक्त थे! वृन्दावनकी बात है। दोनों अपनेको श्यामसुन्दरकी सखी मानकर सखीका शरीर धारण करके सेवाकी भावना करते थे। सेवाकी साधनामें बहुत ऊँचे उठ गये थे। एक दिनकी बात है कि राधाकुण्डमें जल-विहारकी लीला चल रही थी। वे उसीके ध्यानमें लगे हुए थे। लीला होते-होते श्रीप्रियाजीके कानोंका कुण्डल जलमें गिर गया। अब संत तो वहाँ सखीके वेषमें थे। अतः उनकी सखी राधारानीका कुण्डल गिरनेसे वे घबराकर पानीमें डुबकी मारकर खोजने लगे। इधर ध्यानमें तो एक-दो मिनट ही बीता था, पर यहाँ सात दिन बीत गये। लोगोंने देखा कि आँखें बंद हैं, श्वास धीरे-धीरे चल रहा है, सात दिन एक आसनसे बैठे बीत गये हैं। उनके

एक मित्र थे। उनका नाम शायद रामचन्द्रजी था। उनको लोगोंने समाचार दिया। वे स्वयं भी पहुँचे हुए थे। उन्होंने आकर देखा—देखते ही समझ गये कि यहाँ तो कुण्डलकी खोज चल रही है। बस, चटसे वे उन्हींके बगलमें बैठ गये। ध्यानमें ही वहाँ पहुँचे तथा कुण्डल, जो एक कमलकी जड़में छिपा हुआ था, उठाकर इनके हाथोंमें दे दिया। कुण्डल पाकर इन्होंने उसे प्रियाजीके कानोंमें पहना दिया। पहनानेपर प्रियाजीने प्रसन्न होकर अपने मुँहमेंका पान उनके मुँहमें दे दिया। अब पान तो ध्यानमें दिया था, पर उसी समय आँखें खुलीं। देखते हैं कि मुँह पानसे भरा हुआ है। दोनों मित्र हँसने लग गये और लोगोंने कुछ नहीं समझा। केवल इतना ही देखा कि सात दिन बाद पान चबाते हुए उठे। जब दो प्रेमी साथी मिलकर ऐसी सेवाकी साधना एक साथ करते हैं तथा दोनों ही जब ऊँची स्थितिमें पहुँच जाते हैं तब एक-दूसरेकी क्या अवस्था है, यह भगवान्‌की कृपासे वे जान लेते हैं। यह योगकी बात नहीं है। यह तो साधनके साम्यकी बात है तथा भगवदिच्छासे ऐसा हो जाता है।

जैसे गोपियाँ श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिये एक साथ मिलकर कात्यायनीकी उपासना करती थीं। वैसे ही यहाँ भी कोई-कोई ऐसे मित्र होते हैं, जो मिलकर एक-दूसरेसे हृदयकी बात बताते हुए साधना करते हैं। फिर उनसे एकको दूसरेकी अवस्थाका श्यामसुन्दरकी इच्छासे ही कभी भी पता लग जाता है; सदा ही लगे, यह आवश्यक नहीं है।

किसीकी सच्ची लगन हो तो आसानीसे सफलता मिल सकती है; क्योंकि भगवान् सर्वथा सर्वदा उपस्थित हैं। जो चाहिये, वही कर देंगे। पहले तो चिन्तनमें जहाँ मन लगा कि सब चाह ही मिट जायगी। पता ही नहीं लगेगा कि चिन्तन है या असली। चिन्तनका अभ्यास होते ही

मन दिन-रात वहीं फँसा रहेगा। आपके मनमें जो चित्र आता है, उसमें भी आपकी ही कमीके कारण सब त्रुटि है; क्योंकि आप उसे ऐसा मानते हैं कि यह तो भावनाका चित्र था। सेवा हुई, नहीं हुई; चलो, कोई आ गया है तो उससे बात कर लेंगे। भगवान् देखते हैं कि यह तो हमें भावनाका चित्र मानता है, तब हम असली क्यों बनें ? नहीं तो, फिर गरमीके दिनोंमें आपको राधारानी एवं श्रीकृष्णको पंखा झलनेसे फुरसत नहीं मिले। बाहर कुछ भी करते रहेंगे, पर मनमें सिद्धदेह धारण किये हुए पंखा झलते ही रहेंगे, बाहरके काममें भले ही त्रुटि हो, पर पंखा झलना एक मिनट भी नहीं छूटेगा। कहीं किसी झंझटके काममें फँस गये तो इतना दुःख होगा कि बाप रे, हम तो मर गये।

जैसे × × × × हम गरमीके कारण छटपटा रहे थे, ठीक उसी तरह यह मालूम होगा कि ओह ! आज बहुत गरमी है, देखो तो कितना पसीना श्यामसुन्दरको आ रहा है। और फिर यहाँ शरीरका ध्यान छूटकर मनमें ही पंखा झलना चलता रहेगा। पर यह इसीलिये नहीं होता कि न तो चित्र बाँधनेका अभ्यास सधा है और न उसमें असली श्रीकृष्णभाव है। भोजन करानेकी लीलाका चिन्तन करते हुए जैसे धीरे-धीरे चबा-चबाकर हम प्रत्येक ग्रासको खाते हैं, वैसे ही अनुभव होगा कि यह लड्डू है, इसे श्यामसुन्दरने तोड़ा, तोड़कर मुँहमें रखा, अब चबा रहे हैं। फिर मनमें आयेगा, थोड़ा नमकीन खाते तो ठीक रहता ! बस, उसी समय अनुभव होगा कि दही-बड़ेको तोड़कर मुँहमें रख रहे हैं। पर वह करनेसे होगा। आप जो भाव करेंगे, उसी लीलाको वे सच्ची बना देंगे। पहले तो सुन-पढ़कर दस-बारह लीलाओंका कोर्स बनाइयेगा, फिर पीछे उनकी कृपासे नयी-नयी लीलाएँ अपने-आप ध्यानमें आने लग जायँगी। आप जिन श्रीविग्रहकी सेवा करते हैं, उनके

साथ भी ऐसी घटना हो सकती है। वे सचमुच आपका भोग खा सकते हैं, सामने बैठकर खा सकते हैं; पर सारी बात इसपर निर्भर है—अटल विश्वासके साथ सच्चे मनसे चाहकर पूरी लगनसे चिन्तनमें लग जायँ। फिर कुछ भी करना नहीं पड़ेगा। मधुर-से-मधुर लीला एक-पर-एक मनमें उनकी कृपासे आयेगी और आप बस, देख-देखकर निहाल होते रहियेगा। फिर एक दिन यह शरीर छूट जायगा और उसीमें सदाके लिये शामिल हो जाइयेगा। पर यह सब अनन्य लगनके साथ करनेसे होगा।

नन्ददासजी जब मरने लगे—अन्तमें यह पद गाते हुए मरे—

देखो, देखो री नागर नट ? निरतत कालिंदी तट
गोपिनके मध्य, राजै मुकुट लटक।
काछिनि किंकिन कटि
नंददास गावै तहाँ निपट निकट।

अर्थात् मैं बिलकुल नजदीक खड़ा होकर यह लीला देख रहा हूँ। यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये। आप यदि श्रीकृष्णपर निर्भर होकर साधना करें तो नन्ददासजीकी तरह मृत्यु होना कौन बड़ी बात है ?

८०—श्रीराधा और श्रीकृष्ण सबके सामने आते हैं, पर सबको एक प्रकारकी लीलाके ही दर्शन नहीं होते। जो जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला प्रकट होती है। पर एक रहस्यकी बात यह है कि जो भी लीला होती है, उसमें यह अनुभव नहीं होता कि हमें कुछ कम दर्जेकी लीला देखनेको मिली है; जिसे भी जो लीला देखनेको मिलती है, यदि यथार्थ मिलती है तो वह इतनी विलक्षण होती है कि उसके लिये उसके सिवा और कुछ भी बच नहीं रहता। न यह जगत् रहता है, न संसार; न कुछ और बात, बस, वही-वही रह जाती है। और फिर उसीपर नया-नया रंग चढ़ता जाता

है तथा वह रंग इतना चढ़ता है कि बस, उसकी कोई सीमा नहीं, नित्य नया-नया हो जाता है।

जो लीलाएँ बहुत ही उच्च कोटिकी होती हैं, उनमें ऐश्वर्य बिलकुल नहीं होता। जिसके मनमें जरा भी ऐश्वर्यकी ओर टान रहती है, उसे उन लीलाओंको सुनकर आश्चर्य होता है। भजन करते-करते पहले पूर्ण ज्ञान हो जाता है, इसके बाद वह ज्ञान धीरे-धीरे छिपने लगता है, तब मधुर लीलाओंका प्रकाश होता है। श्रीराधा-कृष्णकी लीला एक-से-एक मधुर है, जितना भक्त ऊँचा उठता है, उतनी ही वह मधुरता गहरी होती जाती है। इसकी कोई सीमा नहीं है। आजतक जितने भक्त हुए हैं, उन्हें जो-जो अनुभव हुए हैं और वे जितना वाणीमें कह सके हैं उसीका वर्णन हमलोगोंको प्राप्त होता है। पर वह उतना ही हो, यह बात नहीं। वह तो अनन्त है, असीम है। कोई उससे भी ऊँचा भक्त हो तो उससे भी ऊँची तथा और भी विलक्षण मधुर लीला भगवान् उसे दिखा सकते हैं।

मन किसी प्रकार भी लीलामें फँस जाय तो काम बन गया। सोचिये—गायोंकी कतार खड़ी है, श्यामसुन्दर हाथमें दोहनी (दूध दुहनेका पात्र) लेकर खड़े हैं। गायें हरी-हरी दूब चर रही हैं। श्यामसुन्दरका सखा सुबल पासमें खड़ा है। प्रत्येक गाय रँभा रही है तथा चाहती है कि श्रीकृष्ण पहले उसे दुहें। श्रीकृष्ण तो भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं। एक ही समय एक क्षणमें जितनी गायें हैं, उतने रूपोंमें प्रकट होकर दुहने बैठ जाते हैं। बछड़ा श्रीकृष्णकी पीठ सूँघ रहा है। गाय श्रीकृष्णका सिर सूँघ रही है। दूरपर श्रीराधारानी सखीके कंधेपर हाथ रखकर यह छबि निहार रही हैं। उनकी आँखोंमें प्रेमके आँसू भरते जा रहे हैं।

अब इन्हीं गाय, दूब, बछड़ा—किसीमें भी मन लगा रहे और मृत्यु हो जाय तो इससे बड़ी सुन्दर मृत्यु और क्या होगी ?

८१—निराश नहीं होना चाहिये। कभी किसी दिन एक क्षणमें ऐसी घटना हो जायगी कि बस, उस रस-समुद्रमें बह जाइयेगा। उसमें यह नियम नहीं कि धीरे-धीरे ऊँचा उठते-उठते तब होगा। कभी किसी दिन हठात् कोई ऐसी कृपाकी आँधी आयेगी कि उड़ाकर, बिलकुल जमीनपरसे हटाकर रस-समुद्रके ठीक बीचमें ले जाकर पटक देगी, जहाँसे फिर लौटना असम्भव होगा। किनारे रहे तब, तो फिर शायद पीछे भी लौटें, पर वह आँधी इतनी दूर उड़ा ले जायगी कि फिर जमीनका ओर-छोर भी दिखना बंद हो जायगा।

श्रीमद्भागवतमें तीन उपाय कहे गये हैं—

(१) ऐसी कृपा होनेकी बाट देखता रहे। अब हुई, अब हुई, अब हो जायगी, कल हो जायगी, इस महीनेमें तो हो ही जायगी, इस वर्षमें तो निश्चय हो ही जायगी, हो ही जायगी—इस प्रकार प्रतिक्षण जिस प्रकार एक दरिद्र दिवालिया जूएकी बाजी जीत जानेकी बाट जोहता है तथा सौदा करता ही चला जाता है, वैसे ही भगवत्कृपाकी आशामें जो अपने पास है, सब फूँकता चला जाय। समस्त वस्तुओंको भगवत्प्रेमके लिये होमकर कृपाकी बाट जोहे। यहाँकि जूएमें तो जीत चाहे न भी हो, पर वह कृपा तो आयेगी ही, भगवान्‌की कृपाकी इस बाजीमें तो जीत होगी ही।

(२) जो सुख-दुःख आकर प्राप्त हो जाय, उसे खूब प्रसन्नतासे ग्रहण करे—यह समझकर कि हमारा ही तो किया हुआ है।

(३) हृदयसे, वाणीसे, शरीरसे निरन्तर भगवान्‌को नमस्कार करता रहे।

८२—जो इस प्रकार जीवन बिताता है, उसे मुक्ति तो उत्तर-अधिकारके रूपमें ही मिल जाती है, भगवत्प्रेम भी उसे मिल जाता है।

जब श्रीबनबास मिल्यौ सजनी
तब तीरथ आन गए न गए॥
जब लाड़िलि लाल कौ नाम लियौ,
तब नाम न आन लए न लए॥
पदकंज किसोरिहि चित्त पग्यौ,
तब पायन आन नए न नए॥
जब नैन लगे मन मोहन सौं
तब औगुन आन भए न भए॥

व्रजके एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए हैं—श्रीललितकिशोरीजी, उन्हींका यह पद है। ऐसी ही निष्ठा आगे चलकर रसिक भक्तोंकी हो जाती है। पदका भाव यह है—यदि श्रीप्रियाजीके कुञ्जमें बसनेका—वृन्दावनमें बसनेका सौभाग्य मिल गया तो फिर दूसरे तीर्थोंमें गये अथवा न गये। जाना, नहीं जाना बराबर है। समस्त साधनाका फल तो व्रजवासके रूपमें मिल गया। अब और तीर्थोंमें जाकर क्या होगा। दूसरी बात यह कि जब प्रिया-प्रियतम, लाड़िली-लालका नाम मुँहसे निकल गया, तब फिर दूसरे नाम, दूसरी चर्चा मुँहसे निकली या न निकली। आवश्यकता ही कुछ नहीं है। तीसरी बात, जब श्रीप्रियाजीके चरणकमलोंमें चित्त झुककर उसमें फँस गया—उस रंगमें पग गया, तब फिर और किसीके चरणोंमें सिर नवाया या नहीं नवाया—दोनों बराबर हैं। चौथी बात—जब दृष्टि मनमोहनसे लग गयी, नेत्र मोहनसे जा लगे, तब फिर दूसरा कोई अवगुण (दोष) हुआ या नहीं हुआ, दोनों बराबर हैं। किसी परपुरुषमें दृष्टि लगाना बड़ा अवगुण है, पर

जब वही श्रीमनमोहनरूप सुधाचन्द्रमें लग जाती है, तब वह परम सद्गुण बन जाता है।

इस प्रकार श्रीकृष्णप्रेमका भिखारी बस, चार लक्ष्य सामने रखकर बढ़ता है—जगत्‌की परवा मिटाकर बढ़ता है। कौन क्या कहता है, इसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं रहती। वह बिलकुल सर्वथा जगत्‌की ओरसे, समस्त योग्यताकी ओरसे मुँह मोड़कर रम जाता है। प्रियतम प्रभुके नाम, रूप, लीला, धाम—इन चार चीजोंमें। अभ्यासके द्वारा जैसे हो, जिस प्रकार हो, बस, एक ही चर्चा, एक ही वातावरण निरन्तर बनाये रखे। लीला सुननेके लिये मिले, सुने—नहीं मिले तो पढ़े, चिन्तन करे। बस, मन उन्हीं बातोंमें रमता रहे। श्रीगोपीजनोंके प्रेमकी कैसी दशा होती है, इसे लिखकर तो कोई बता ही नहीं सकता। जैसे बिजलीका प्रकाश है; उसे देखकर जिसने कभी सूर्यके निर्मल प्रकाशको नहीं देखा है, वह अनुमान ही नहीं कर सकता कि वह कितना निर्मल प्रकाश है। ठीक उसी प्रकार आप जितनी बातें सुनते हैं, उनको सुनकर वास्तविक श्रीगोपी-प्रेमका क्या रूप है, यह ठीक-ठीक अनुमान ही आपको नहीं हो सकता। वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह अत्यन्त निर्मल प्रकाशमय वस्तु है, ज्ञानके परेकी चीज है। उसे तो देखकर उनकी अनन्त कृपा होनेपर ही उसका यत्किञ्चित् स्वरूप समझा जा सकता है।

निरन्तर उनके चरणोंमें रो-रोकर प्रार्थना करनेसे ही कुछ अनुभवमें, कल्पनामें आ सकता है। इसलिये लीला पढ़ें, सुनें, प्रार्थना करें, निरन्तर कृपाकी भीख माँगते ही चले जायँ और जहाँतक बने, अब मनको प्रपञ्चके कामोंसे दूर रखनेकी चेष्टा करें।

एकान्तमें बैठकर रोयें, श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें बैठकर उनके

सामने रोयें। सच्चा रोना न हो, न सही। झूठे ही जैसा भाव हो, उसीको लेकर रोयें—नाथ! इस नीरस हृदयको सरस बनाओ, इस सूखे हृदयमें अपने प्रेमका एक कण देकर इसे भर दो। प्रभो! अपनी ओर, अपनी कृपाकी ओर देखकर ऐसा करो। निश्चय मानिये, बार-बारकी प्रार्थना व्यर्थ जा ही नहीं सकती। झूठीको वे अपने कृपासे सच्ची बना देते हैं।

८३—इस प्रकार अभ्यास आरम्भ कीजिये—

(१) कुञ्जोंका नकशा आपने देखा था। उसमें पहले श्रीविशाखाका कुञ्ज कहाँ है, यह देखकर कुछ क्षण उस समूचे कुञ्जका चित्र बाँधिये।

(२) फिर एक कदम्बके वृक्षकी सुन्दर-से-सुन्दर कल्पना कीजिये।

(३) फिर उसकी डालियोंको देखिये।

(४) फिर उसमें पत्ते लगे हैं, उन्हें।

(५) कदम्बके अत्यन्त सुन्दर फूल हैं, उन्हें।

(६) कदम्बके फूलोंपर झुंड-के-झुंड काले भौंरे हैं, उन्हें।

(७) कदम्बकी जड़के नीचे उजला चम-चम करता हुआ संगमरमरका गड्ढा है, उसे।

(८) संगमरमरका गोलाकार गड्ढा चारों ओर फैला है, उस गोलाईका कुछ क्षण चिन्तन कीजिये।

(९) अंदाज दो-दो गज चारों ओरसे चम-चम कर रहा है, उसका।

(१०) उसके नीचेकी जमीन भी संगमरमरके फर्शकी बनी हुई है, वह खूब चमक रही है; इसे देखें।

(११) फर्शके चारों ओर बेलाके वृक्ष लगे हैं, उन्हें।
(१२) उनमें बड़े-बड़े फूल खिले हैं, उन्हें।
(१३) फिर चमेलीके वृक्ष हैं, उन्हें।
(१४) चमेलीमें फूल लगे हैं, उन्हें।
(१५) हरी-हरी दूबकी जमीन चारों ओर फैली है, उसे।
(१६) उसपर कहीं स्थलकमल हैं, उन्हें।
(१७) कहीं तगर, कहीं कुन्द, उन्हें।
(१८) चारों ओर हरी-हरी झाड़ी दीख रही है, उसे।
(१९) गद्दैके सहारे श्रीराधारानी बैठी हैं, उन्हें।
(२०) नीली साड़ी है, यह।
(२१) हाथमें कङ्कण है, यह।
(२२) दोनों हाथोंमें कङ्कण हैं, उन्हें।
(२३) इसके बाद अत्यन्त सुन्दर चूड़ियोंको।
(२४) इसके बाद भी एक अत्यन्त सुन्दर आभूषण है, उसको।
(२५) बाँहके पास भी सुन्दर आभूषण हैं; उन्हें।
(२६) पैर साड़ीसे ढका है, यह।
(२७) मुखारविन्द शोभा पा रहा है, यह।
(२८) सिरपर चन्द्रिका है, उसे।
(२९) चन्द्रिकामें मोतीकी झालर लटक रही है, उसे।
(३०) ललाटपर सुन्दर कुङ्कुमका गोल लाल बिन्दु है, उसे।
(३१) सिरके पास अञ्चल कुछ बायीं ओर ऊपर चढ़ गया है, उसे।
(३२) श्यामसुन्दर उनके दाहिनी ओर हैं, उन्हें।

(३४) बड़ा ही सुन्दर मुख है, इस झाँकीको।

(३५) आँखें बड़ी-बड़ी हैं, उस सौन्दर्यको।

(३६) आँखें नीचेकी ओर हैं, इस लावण्यको।

(३७) अलकावलि कुछ बिखरी हुई मुखपर आ गयी है, इस झाँकीको।

(३८) दुपट्टा दोनों कंधोंपर लटक रहा है, यह।

(३९) दोनों हाथोंसे एक तागेमें फूल पिरो रहे हैं, यह।

(४०) श्रीप्रियाजी भी दोनों हाथोंसे फूल पिरो रही हैं, इस मनोहर दृश्यको।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक लाइन पढ़कर उसमें क्या-क्या चीज आयी है, यदि उन सबपर एक-एक सेकण्ड भी मन रुककर उन्हें देख ले तो फिर छोटी लीलामें भी चार-छः घंटे लग जायँ। अभ्यास करनेसे होता है। मेरी समझमें यही बात आती है तथा समस्त शास्त्रोंमें एवं वैष्णव संतोंके वचनोंमें यही बात मिलती है कि मनको स्थिर करना ही पड़ेगा और स्वयं भगवान्‌ने जैसा कहा है अभ्यास और वैराग्य दोनोंको साथ-साथ पूरी तत्परतासे करनेसे ही काम बनता है। सच मानिये, इस व्रजलीलामें मन फँसानेके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता ही नहीं है। यहाँ तो एकके बाद एक, एकके बाद एक, इस प्रकार मन जहाँ जाय, कुछ भी सोचे, उसी स्फुरणके साथ व्रजकी किसी चीजको जोड़ देनेसे ही ध्यान होने लग जाता है।

मनकी जिस समय विशेष चञ्चलता हो, उस समय उसे खूब तेजीसे नचाना आरम्भ करें। हमें लिखनेमें तो देर लगती है, पर चञ्चलताके समय उसकी बड़ी सुन्दर दवा यह है कि जोरसे उच्चारण करें, हरे राम, कृष्ण, गोविन्द। फिर प्रारम्भ करें राधाकुण्ड, निकुञ्ज

ललिता, विशाखा, चित्रा, वेदी, नदी, यमुना, गोवर्धन, गाय। इस प्रकार पागलकी तरह मनके सामने जो भी कोई चीज आये, उसे व्रजके भावमें जोड़ दें। मन जब कुछ भी सोचेगा, आप विचारकर देख लें, देखी-सुनी हुई बातको ही सोचेगा। जिस समय किसी स्त्रीपर ध्यान जाय, उस समय पागलकी तरह गोपी, गोपी, गोपी रटने लग जायँ। लड़केपर ध्यान जाय—बस, ठीक उसी समय सुबल, श्रीदाम, स्तोक, मधुमङ्गल पागलकी तरह रटें। इसके बाद ध्यानमें आया घर-मकान—बस; ठीक वहीं, उसी स्थानपर देखें ना, यहाँ तो कुञ्ज है, महल है, ना, वह देखो, ललितारानीका कुञ्ज है। अहा ! कैसी झाड़ी है, कैसा सुन्दर सरोवर है, कैसा उपवन है। यह शब्द उच्चारण होते ही फिर आगे चलकर वह चित्र भी सामने आ जायगा। पर यह तभी होगा जब कि जीवनका उद्देश्य बस, एक ही रह जाय—चाहे मरेंगे या जीयेंगे, अब तो चौबीसों घंटे व्रजमण्डलमें ही मन रमेगा, व्रजके लता-पत्र कुछ भी बनेंगे, पर अब तो बनेंगे ही।

इस प्रकार दृढ़ निश्चय होते ही श्रीकृष्णकी सारी कृपा साधकके ऊपर बहने लगती है। लीला एक-से-एक सुन्दर तथा एक-से-एक आकर्षक—बढ़िया हैं, आकर्षक हैं, पर सभीमें मनकी आवश्यकता होगी ही। आप-जैसे मेरे पास आते हैं; अब यदि ऐसा नियम कर लें कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक-डेढ़ घंटा जबतक इनके पास बैठूँगा, तबतक ये जैसे-जैसे लिखते जायँगे, उसका पूरा-पूरा चित्र बाँधनेकी चेष्टा करूँगा ही तो फिर चौबीस घंटोंमें डेढ़ घंटा आपका ध्यान हो गया। इसके बाद यदि घरपर नियमसे, आज जिस लीलाको सुनें, कल ठीक चार घंटे उसमें मन लगाना ही है, इस भावनासे दृढ़तापूर्वक साधन करें, तब तो फिर पाँच-छः घंटे प्रतिदिन साधन

होगा। तथा यदि विषयका सङ्ग नहीं हुआ, उससे बचे रहे, तब तो फिर उन्नति होनी ही चाहिये। पर बिना तत्परताके कुछ भी होना कठिन है।

विषयोंका सङ्ग वह है, जो भगवान्‌से हटाये। जो भी वस्तु भगवान्‌के प्रति आकर्षण कम करे, वही विषय है।

८४—श्रीकृष्ण तो कृपाके समुद्र हैं, उनके उन्मुख होना चाहिये; फिर उनमें पक्षपात थोड़े है कि इसपर कृपा करूँ, इसपर नहीं करूँ।

अब सोचिये—इस समय अँधेरा हो गया है; यहींपर एक नहीं, एक साथ अनन्त लीलाएँ चल रही हैं। किसीके एक कणमें मनको डुबाइये। सोचिये, श्रीराधाजीके हाथकी बनी हुई रसोईको नन्दबाबाके साथ श्रीकृष्ण आरोगनेकी तैयारीमें खड़े हैं, मैया यशोदा जल्दी-जल्दी कभी भीतर आती हैं, कभी बाहर जाती हैं ? कभी सोचती हैं—ओह ! दूधमें मिस्री डालना भूल गयी हूँ और चूल्हेके पास दौड़कर जाती हैं। श्रीकृष्ण अन्यमनस्क-से होकर अपने महलमें बाहरके बरामदेमें खड़े ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं मानो उनकी दृष्टि अन्धकारको चीरकर किसीको देखना चाहती हो।

इधर नन्दबाबाके दरबारकी तैयारी होने जा रही है। कोई बाजा लेकर, कोई पोशाककी पेटी लेकर दरबारकी ओर जा रहा है। नन्दबाबाकी पगड़ी हिल जाती है। श्रीकृष्णका हाथ नन्दबाबा पकड़े हैं, अब वे चल रहे हैं; सीढ़ियोंसे चढ़ रहे हैं। अब एक-एक वस्तुको यदि मन देखने लगे तो इतनी-सी बातमें दो घंटे बीत जायँगे। प्रतिदिन तीन-चार घंटे लीला-चिन्तनमें बिताना कौन बड़ी बात है और तारीफ यह है कि कहीं किसी चीजमें मन डूबा कि श्रीकृष्णकी कृपा लीलाका प्रकाश करके मनको खींच लेगी। श्रीकृष्णकी धारणा नहीं होती, न सही; वैजयन्तीमालाकी धारणा, उनके किसी अङ्गकी धारणा,

सीढ़ियोंकी धारणा, नन्दबाबाकी पगड़ीकी धारणा भी नहीं होगी? होगी, अवश्य होगी। खूब शान्तिसे, अखण्ड उत्साह लेकर उनकी कृपासे किसी व्रज-भाव-भावित वस्तुको सोचते चले जाइये, फिर तो श्रीकृष्ण खिंचे हुए, बँधे हुए उसीके साथ प्रकट होंगे ही।

८५—जैसे-जैसे वृत्तिकी मलिनता दूर होगी, वैसे-वैसे जो राधाभाव, श्रीकृष्णभाव, श्रीराधाजीका रूप, श्रीकृष्णका रूप है, उसपर नया-नया रंग चढ़ता जायगा और यह रंग चढ़ना कभी समाप्त ही नहीं होता—चढ़ता ही चला जाता है; क्योंकि वह रूप अनन्त है।

अभी मान लें आप ध्यान कर रहे हैं—मीठे झीने सुरमें श्रीकृष्ण बाँसुरीमें सुर भर रहे हैं, गायें पूँछ उठा-उठाकर गोशालामें इधर-उधर दौड़ रही हैं, नन्दबाबाके हजारों दास गायोंकी खड़ी हुई कतारके पास बैठकर दूध दुह रहे हैं, श्रीकृष्णकी दृष्टि दूरपर खड़ी हुई श्रीराधारानीपर लग रही है। ×× बस, इतना-सा ही ध्यान प्रतिक्षण नये-नये रंगमें, नये-नये भावमें रँगता चला जायगा। इसका स्वरूप कुछ दिनोंके बाद ऐसा हो जायगा, उस ध्यानमें और पहलेके ध्यानमें इतना गहरा अन्तर हो जायगा कि आप चकित रह जायँगे। ऐसे ही किसी भी लीलाका रंग, भाव सब बदल जायगा। एक बार पूरी चेष्टा करके मनको डूबनेका अभ्यासी बनाइये फिर देखेंगे—नया-नया रस मिलेगा।

८६—रासलीलाकी फलश्रुति है कि 'इसे श्रद्धापूर्वक सुननेवाला पराभक्ति प्राप्त करता है।' पर '**अनुशृणुयात्**' अर्थात् निरन्तर श्रवण करना चाहिये। तथा '**श्रद्धान्वितः**' अर्थात् इसे ही एकमात्र साधन बनाकर, इसपर दृढ़ विश्वास करके सुने। यदि लीला-श्रवणका ही आप व्रत ले लें तो केवल एक यही उपाय कृपाको प्रकाशित कर देगा; परंतु यह भी होगा पूरी लगनसे, पूरी तत्परतासे।

एक बात सदाके लिये सभीको ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवत्कृपाका प्रकाश होकर अधिकारानुसार प्रेम प्राप्त कर लेना चेष्टाकी सफलतापर बिलकुल निर्भर नहीं है। यह निर्भर है भावपर अर्थात् इसने कितनी सत्यतासे साधनको पकड़े रहनेकी चेष्टा की है। बेईमानी की है कि नहीं—इसीपर फैसला होता है।

८७—एक बार एक संतने कहा था कि संतोंके सङ्गमें किसी प्रकार टिके रहो। प्रेमी संतोंके अन्दर जो प्रेमसमुद्र लहराता रहता है, वह बराबर प्रकट नहीं रहता, छिपा हुआ रहता है। किसी दिन उसमें उफान आया, तुम पासमें रहे और तुमपर एक छींटा भी पड़ गया कि 'उसी क्षण बिना किसी परिश्रमके भगवत्प्रेम प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।' भाव यह था कि प्रेमी संतोंके संगका लाभ तो अमूल्य होता ही है; पर कभी-कभी उनका जो भगवत्प्रेम है, वह बाहर प्रकट होकर बहने लग जाता है। सदा ऐसा नहीं होता। अब कल्पना करें, कोई सदासे सङ्गमें रहता आया है। वह यदि उस क्षण वहाँ उपस्थित रहता तो उसे उस प्रेमके प्रभावसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये कोई भी दूसरी लालसा, दूसरी शर्त न रखकर, धैर्य रखकर संतोंका सङ्ग करना चाहिये।

वास्तवमें बात यह है कि भगवत्प्रेम साधनासे नहीं मिलता। यह तो उसीको मिलता है, जिसे भगवान् या कोई प्रेमी संत दे दें। मोक्ष साधनासे मिल सकता है, पर प्रेम नहीं। महाप्रभुके जीवनसे यह बात भली-भाँति प्रमाणित हो जाती है। एक भक्त थे, वे बेचारे सबको प्रेममें विभोर होते देखते; पर उनको प्रेम नहीं होता। एक दिन वे महाप्रभुका चरण पकड़कर रोने लग गये। महाप्रभुने कहा—'अच्छा, कल गङ्गा-स्नान करके आना।' कल हुआ, वे गङ्गा-स्नान करके आये। प्रभुने

उन्हें छू दिया। उसी क्षण वे प्रेमावेशसे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। सचमुच प्रेम कुछ इतनी विलक्षण वस्तु है कि जहाँ कहीं भी वह प्रकट होता है वहाँ प्रायः ऐसे ही एकाएक प्रकट होता है। श्रद्धा होनी चाहिये।

पद्मपुराणमें एक कथा आती है—एक राजकुमार था। उसके मनमें आया—कैसे भजन होता है, श्यामसुन्दरका प्रेम क्या वस्तु है, किससे जाकर पूछूँ, कौन बताये ? इसी चिन्तामें वह सो गया। उसके घरमें एक ठाकुरजीका विग्रह था। उन्हींके विग्रहके सम्बन्धमें स्वप्न आरम्भ हुआ। स्वप्नमें उसने देखा कि वह विग्रह राधा-कृष्णके रूपमें बदल गया। वहाँ उसे साक्षात् श्रीराधा-कृष्ण दीखने लगे। सखियाँ भी दीखने लगीं। फिर श्रीकृष्णने अपनी बायीं ओर बैठी हुई एक सखीसे कहा—'प्रिये ! इसे अपने समान बना लो।' वह गोपी आज्ञा पाकर आयी, राजकुमारके पास खड़ी हो गयी तथा अभेद भावसे राजकुमारका चिन्तन करने लगी। राजकुमारने देखा कि एक क्षणमें ही उसके सारे अङ्ग बदल गये; उसके हाथ, पैर, सिर, मुँह, नाक—सब बदल गये और वह एक अत्यन्त सुन्दर गोपी बन गया। उसके बाद उस गोपीने इसे एक वीणा दे दी कि 'यह लो, श्यामसुन्दरको भजन सुनाओ।' उसने भजन सुनाना आरम्भ किया। भजन सुनानेपर श्यामसुन्दरने प्रसन्न होकर उसका आलिङ्गन किया,उसे हृदयसे लगा लिया। इसी समय राजकुमारकी नींद खुल गयी। राजकुमार रोने लग गया। निरन्तर एक महीनेतक रोता रहा। फिर उसने घर छोड़ दिया और वनमें जाकर कई कल्पोंतक एक मन्त्रका जप एवं युगलसरकारका ध्यान करता रहा। तब उसे सचमुच गोपीका देह प्राप्त हुआ और उसे भजन सुनानेकी वही सेवा मिली।

नारदजीको जब दर्शन हुआ तब एक सखीने सब सखियोंका

परिचय दिया कि पूर्वजन्ममें यह अमुक ऋषि थे, यह अमुक, इन्होंने यह मन्त्र जपा था, यह ध्यान किया था। उसी प्रसङ्गमें नारदजीको उस सखीने बताया कि जिस सखीके हाथमें वीणा देख रहे हो, वह पहले जन्ममें राजकुमार रह चुकी है।'

सारांश यह है कि यों तो प्रेम कल्पोंकी साधनाके बाद कभी किसी बड़भागीको मिलता है, पर जब वह प्रेम मिलनेका उपक्रम होता है, तब एकाएक होता है। उसके लिये कोई साधना है, प्रेम मिल ही जायगा—यह कहना नहीं बनता। हाँ, यह ठीक है कि सच्चे प्रेमियों या संतोंका सङ्ग अमोघ होता है। वह किसी-न-किसी दिन प्रेम उत्पन्न कर ही देता है।

८८—सबसे ऊँचा प्रेम श्रीगोपीजनोंका ही है। इसी प्रेममें रासलीलामें सम्मिलित होनेका अधिकार मिलता है और किसी भी प्रेममें नहीं। पर यह गोपीप्रेम भी सचमुच साधनाका फल नहीं है। यह तो किसी गोपी-भावापन्न संत, किसी गोपी अथवा श्रीकृष्णकी कृपासे ही प्राप्त होता है। हाँ, कृपा प्राप्त करनेके अधिकारी सभी हैं। श्रीकृष्णकी निन्दा करनेवाला भी कभी-कभी विलक्षण कृपा प्राप्त करके निहाल हो जाता है। फिर कृपा चाहनेवाला निहाल हो, इसमें संदेह ही क्या है। काशीमें भारतके एक बड़े भारी वेदान्ती थे। उनसे बड़ा उस समय कोई नहीं था। नाम था स्वामी प्रकाशानन्दजी। दिन-रात भक्तोंका मजाक उड़ाया करते थे। महाप्रभु काशीमें आये, दर्शन हुए। दर्शन करते ही चित्तमें उथल-पुथल मच गयी। लम्बी कथा है। फिर वे ऐसे प्रेमी बने कि दिन-रात सखीभावसे राधा-कृष्णके प्रेममें डूबे रहते। जब जीवन पलटता है, तब ऐसे ही पलट जाता है।

भगवद्गुणानुवाद सुननेसे मन इस योग्य होता है कि उसमें प्रेम

प्रकट हो सके। पर सुननेसे प्रेम होगा, सुननेसे प्रेम खरीद लिया जायगा—यह बात नहीं है। वह तो तभी मिलेगा, जब स्वयं भगवान् या उनका कोई प्रेमी संत दे दे।

ज्ञान हो सकता है, मोक्ष हो सकता है, बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ साधनसे सिद्ध हो सकता है, पर प्रेम इतनी दुर्लभ वस्तु है कि साधनाके मोलमें नहीं मिलता। यदि किसीको इसका एक कण भी मिल जाय तो उसकी ऐसी दशा हो जाय कि सब चकित रह जायँ। मुझे तो प्रेम मिला नहीं और पता नहीं, इस जीवनमें मिलेगा या नहीं, क्योंकि वह सौदेकी चीज नहीं है। वह तो श्रीकृष्ण दें या कोई प्रेमी दे, तब मिले।

८९—प्रेमी भक्तोंकी दशा विचित्र होती है। कोई-कोई चाहते हैं कि मैं लता बन जाऊँ। ऐसा होनेपर फिर उसमें फूल लगेंगे और श्रीकृष्ण आयेंगे तथा अपने हाथसे उसे पकड़कर फूल तोड़ेंगे। फूल तोड़कर श्रीगोपीजनोंके अञ्चलमें बाँधेंगे। राधाजीके साथ मेरी पत्तियोंको पकड़कर खेल करेंगे और मैं देखूँगा। धन्य है उनकी चाहना।

व्रजकी लता बनना भी अनन्त सौभाग्यसे ही होता है। वे लताएँ यहाँकी तरह जड़ लताएँ नहीं हैं। वे लताएँ चाहते ही गोपी बन सकती हैं; क्योंकि वृन्दावनकी सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं। वहाँ केवल रूप भिन्न-भिन्न है, तत्त्वतः सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं। लीलाके लिये कोई पेड़, कोई लता, कोई पक्षी, कोई हिरन—इस प्रकार दिखायी पड़ते हैं।

इसीलिये मैं बार-बार कहता हूँ कि वृन्दावनकी किसी भी वस्तुका चिन्तन कीजिये। चिन्तन करते-करते—मान लें पेड़का चिन्तन करते-करते ही आप मर गये और फिर पेड़ बने तो ऐसा-वैसा पेड़, मामूली पेड़ नहीं बनियेगा। वृन्दावनका सच्चिदानन्दमय पेड़ बनियेगा और

चाहते ही गोपी बनकर, सखा बनकर, जैसा रूप चाहियेगा, वैसा ही बनाकर साक्षात् सेवा कीजियेगा।

९०—जैसे-जैसे साधक ऊपर उठता है, वैसे-वैसे ही भगवान्‌का ऐश्वर्य छिपता चला जाता है तथा शुद्ध पवित्रतम मधुर राज्यकी लीला एक-से-एक बढ़कर चित्तमें आती रहती है। अब श्रीकृष्ण राधाके लिये रोयें—यह लीला उसे आनन्द दे ही नहीं सकती, जिसका मन अभी ऐश्वर्यके आनन्दकी ओर आकृष्ट होता है और सच्ची बात तो यह है कि वर्णन इसीलिये किया जाता है कि किसी प्रकार मन पवित्र हो, नहीं तो वे लीलाएँ वाणीमें आ ही नहीं सकतीं, उन्हें तो कोई बिरला भाग्यवान् बहुत ऊँचा संत ही अनुभव करता है।

उस मधुरलीलामें श्रीकृष्ण अपने समस्त ऐश्वर्यको भूलकर, छिपाकर प्रियतमरूपसे लीला करते तथा व्रजसुन्दरियाँ भी उन्हें सर्वथा अपना 'प्राणेश्वर' ही मानती हैं। यह बात नहीं है कि उन्हें भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। बात यह है कि जब प्रेमका समुद्र उमड़ता है, तब ज्ञान छिप जाता है। वह कुछ ऐसी स्थिति है कि जिसकी कल्पना बड़े ही भाग्यवान् बिरले प्रेमी अपने अन्तरमें ही कर पाते हैं।

'कालाचाँद गीता' एक छोटी-सी पुस्तक है। बड़ी ही सुन्दर पुस्तक है। उसमें एक स्थलपर श्रीकृष्णको रोते देखकर गोपी रोनेका कारण पूछती है। उसीके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—'सुनो, सखि ! जहाँ प्रेम है, वहाँ निश्चय ही आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहती रहेगी। प्रेमीका हृदय पिघलकर आँसुओंके रूपमें निरन्तर बहता रहता है और उसी अश्रु-जल, प्रेमजलमें प्रेमका पौधा अङ्कुरित होकर निरन्तर बढ़ता रहता है। सखि ! मैं स्वयं प्रेमीके प्रेममें निरन्तर रोता रहता हूँ। मेरी आँखोंसे निरन्तर आँसुओंकी धारा चलती रहती है। मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं

बताऊँ, पर तुमने बार-बार पूछा—तुम क्यों रोते हो ? तो आज बात कह दे रहा हूँ। मैं अपने प्रेमीके प्रेममें रोता हूँ; जो मेरा प्रेमी है, वह निरन्तर रोता है और मैं भी उसके लिये निरन्तर रोता ही रहता हूँ। सखि ! जिस दिन मेरे-जैसे प्रेमके समुद्रमें तुम डूबोगी, जिस दिन तुम्हारे हृदयमें प्रेमका समुद्र—उसी प्रेमका समुद्र जो मेरे हृदयमें नित्य-निरन्तर लहराता रहता है, लहराने लगेगा, उस दिन तुम भी मेरी ही तरह बस, केवल रोती ही रहोगी। सखि ! उन आँसुओंकी धारासे जगत् पवित्र होता है; वे आँसू नहीं, वे तो गङ्गा एवं यमुनाकी धारा हैं। उनमें डुबकी लगानेपर फिर त्रिताप नहीं रहते। सखि ! मैं देखता हूँ, मेरी गोपी, मेरे प्राणोंके समान प्यारी गोपी रो रही है, मेरी प्रियतमा रो रही है, बस मैं भी यह देखते ही रोने लग जाता हूँ। मेरा हृदय भी रोने लग जाता है। मेरी प्रिया—प्राणोंसे बढ़कर प्यारी गोपी जिस प्रकार एकान्तमें बैठकर रोती है, वैसे ही मैं भी एकान्तमें बैठकर रोता हूँ और रो-रोकर प्राण शीतल करता हूँ। यह है मेरे रोनेका रहस्य।'

सोचकर देखिये—जिस साधकका, सिद्धका, भक्तका मन श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको ही ग्रहण कर पाया है, वह इस परम मनोहारिणी लीलाका रस ले ही नहीं सकता। उसे भगवान्‌के यों रोनेकी ये बातें समझमें ही नहीं आयेंगी।

जो शान्तभावसे उपासना करते हैं, उनके लिये केवल श्रीकृष्णका ऐश्वर्यमय रूप प्रकाशित होकर रह जाता है। उन्हें यह नहीं ज्ञात होता कि इससे परे भी कुछ और है; क्योंकि भगवान् जिस किसीको भी जिस रूपमें मिलते हैं, उसीमें उसको पूर्णताका अनुभव हो जाता है, कारण भगवान् सर्वत्र सब ओरसे परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार दास्य, सख्य, वात्सल्यभावतककी प्राप्ति हो जाती है। पर यहाँतक श्रीराधाजी एवं

उनके दिव्य भावका प्रकाश नहीं होता। वे प्रकट नहीं होतीं। जो इससे ऊपर उठते हैं, मधुरभावसे उपासना करते हैं और साधनाकी सिद्धि प्राप्त करते हैं, उन्हींके लिये श्रीराधाजी प्रकट होती हैं। वे ही इस ऐश्वर्यविहीन परम-मनोहारिणी लीलाका रस ले पाते हैं।

९१—एक बड़ा सुन्दर पद है—

स्याम स्याम रटत राधा, स्याम ही भई री।
पूछत सखियन सौं प्यारी कहाँ गई री॥

यहाँ प्रेमकी बड़ी विलक्षण अवस्था होती है। श्रीराधा श्रीकृष्ण बन जाती हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधा बन जाते हैं। यह कविकी कोरी कल्पना नहीं, यह दिव्य चिन्मय प्रेमधाममें होनेवाली लीलाको अनुभव करके उसकी झाँकीका वास्तविक चित्र खींचा गया है। प्रेमरसमें डूबे हुए व्रजके कई संतोंने सचमुच इस दिव्य लीलाका साक्षात्कार किया था और तब पदरचना की थी।

९२—सूरदासजीका प्रयाण-काल जब निकट आया, तब गोस्वामी विट्ठलनाथजीने पूछा—सूरदास! मनकी वृत्ति कहाँ है? सूरदासने गाया है—

बलि बलि बलि बलि कुअँरि राधिके,
स्याम सुँदर जिन सौं रति मानी।

× × ×

पदका भाव यह है कि 'धन्य राधिके! समस्त जगत्, समस्त ब्रह्माण्डको आनन्द देनेवालेको भी तुमसे आनन्द मिलता है।' आगे कहते हैं कि 'तुमलोगोंका रहस्य बड़ा ही विलक्षण है। श्यामसुन्दर पीताम्बर इसलिये पहनते हैं कि उसे देख-देखकर तुम्हारी स्मृतिमें डूबते रहें और तुम नीली साड़ी इसलिये पहनती हो कि श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें

ही डूबी रहो।' अन्तिम क्षणमें पूछा गया—'सूरदास! नेत्रकी वृत्ति कहाँ है?'

उसपर गाया—

खंजन नैन सुरँग रस माते। × × ×

यही पद गाकर उन्होंने प्राण छोड़ दिये। ऐसी ही मृत्यु श्रीकृष्ण हम सबको दें।

९३—प्रेमका आरम्भ यहाँसे होता है—'भगवान्‌की इच्छा पूर्ण हो; वे जिस बातसे प्रसन्न हों, वही हो। मुझे अनन्त जन्मोंतक नरकमें रखकर वे प्रसन्न हों तो मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, मुझे नरकमें भिजवा दें, मुझे जलानेमें उनको सुख हो तो सदा जलायें।' यह बात नहीं कि प्रेमी ऊपरसे खाली कहता ही हो; वह सचमुच नरकमें जानेके लिये तैयार रहता है तथा यह बात भी नहीं है कि वह जानता है कि हमें नरक तो जाना ही नहीं पड़ेगा; कह दो, कहनेमें क्या लगता है। वह सचमुच ही नरककी ज्वालामें जलकर प्रियतमके सुखसे सुखी होनेके लिये तैयार रहता है। यह ठीक है कि वह नरकमें नहीं जाता; पर उसके मनमें यह बात नहीं रहती कि मैं नरकमें नहीं जाऊँगा।

उसके मनमें स्वयं शान्ति पानेकी, स्वयं सुख पानेकी बिलकुल-रत्तीभर भी इच्छा नहीं रहती। इसीलिये शास्त्रोंमें प्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं, इससे परे अब कोई और पुरुषार्थ नहीं है।

९४—श्रीकृष्ण स्वयं किसी दिन गाकर सुना दें; फिर तो जगत्‌का समस्त संगीत, सारी राग-रागिनियाँ अत्यन्त तुच्छ हो जायँ, क्योंकि यहाँकी समस्त मधुरता उनकी मधुरताके समुद्रकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है। सोचकर देखिये—गानेवालेके गलेकी आवाजमें मिठास कहाँसे आती है? भला रेडियोमें, इतने गानेवालोंके गलेमें जो इतना

मिठास भरता है, वह स्वयं कितना मधुर गाना गाता होगा। यदि श्रीकृष्णकी मधुरतापर सचमुच विश्वास हो जाय तो प्राण व्याकुल हो जायँ कि वे कैसे मिलें।

९५—नन्ददासजी व्रजके एक बड़े प्रेमी महात्मा हो गये हैं। ये तुलसीदासजीके गुरुभाई थे। पीछे रामप्रेमीसे कृष्णप्रेमी बन गये। एक दोहा प्रसिद्ध है, गोस्वामी तुलसीदासजीने यह लिखकर भेजा—

कहा कमी रघुनाथमें छाड़ी अपनी बान।

श्रीरामचन्द्रमें क्या कमी थी कि अपनी बान छोड़ दी अर्थात् रामको छोड़कर कृष्णको भजने लगे। उसीके नीचे नन्ददासजीने लिखकर भेजा—(कमी कुछ नहीं, राम-कृष्ण सर्वथा एक हैं; पर)

मन बैरागी ह्वै गयौ सुन बंसी की तान।

कहनेका मतलब यह है कि कब भगवत्कृपा प्रकाशित होकर जीवन ऊपर उठ जायगा—यह कोई नहीं कह सकता। अतः कृपाकी आशा लगाये रहना चाहिये। चाहे किसीका जीवन कितना ही पतित क्यों न हो, कभी निराश नहीं होना चाहिये। उनकी कृपा होगी तब एक क्षणमें सारा नकशा पलट जायगा।

९६—महात्माओंकी दृष्टि पड़ते ही क्षणभरमें जीवन सुधर सकता है। दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं। उनका नाम धनुर्दास था। एक वेश्या थी—हेमाम्बा नाम था उसका। बड़ी सुन्दरी थी। उसके रूपपर वे मुग्ध थे। भगवान्‌में भक्ति बिलकुल नहीं थी। शरीर खूब हट्टा-कट्टा था। लोग उन्हें पहलवान कहते थे। बिचारेके अन्दर कामवासना नहीं थी, रूपका मोह था। उसे रूप बड़ा प्यारा लगता था। दिन बीतने लगे। रङ्गजीके मन्दिरमें उत्सव प्रतिवर्ष हुआ करता था और वैष्णवाचार्य श्रीरामानुजजी महाराज मन्दिरमें आया करते थे। लाखोंकी

भीड़ होती थी। कीर्तनका दल निकलता था। पहलवानजी और वेश्याके मनमें भी उत्सव देखनेकी एक साथ इच्छा हुई। वे लोग भी आये। कीर्तनमें लोग मस्त थे। भगवान्‌की सवारी सजायी गयी थी। हजारों आदमी आनन्दमें पागल होकर नाच रहे थे। पर पहलवानजीको उस वेश्याके मुखकी शोभा देखनेसे ही फुरसत नहीं थी। वे वहाँ भी एकटक उस वेश्या हेमाम्बाको ही देख रहे थे। श्रीरामानुजाचार्यजीकी दृष्टि पड़ गयी। इतने बड़े महात्माकी दृष्टि पड़ी। भाग्य खुल गया। श्रीरामानुजाचार्यजी बोले—यह कौन है? उनको दया आ गयी थी। लोगोंमें यह बात प्रसिद्ध थी ही। सबने साग हाल कह सुनाया। श्रीरामानुजाचार्यजी डेरेपर गये और कहा, उसे बुला लाओ। पहलवानजी आये। श्रीरामानुजाचार्यजीने पूछा—'भैया! लाखों आदमी भगवान्‌के आनन्दमें डूब रहे थे, पर तुम मल-मूत्रके भाण्डपर दृष्टि लगाये हुए थे। ऐसा क्यों?' पहलवानने बताया—'महाराजजी! मैं कामवासनाके कारण उस वेश्याको प्यार नहीं करता, मुझे तो सुन्दरता प्रिय है। हेमाम्बा-जैसी सुन्दरता मैंने और कहीं भी नहीं देखी। इसीलिये मेरा मन दिन-रात उसीमें फँसा रहता है।' आचार्यजी बोले—'भैया! यदि इससे भी सुन्दर कोई वस्तु तुम्हें देखनेको मिले तो इसे छोड़ दोगे?' पहलवान बोले—'महाराजजी! इससे भी अधिक सुन्दर कोई वस्तु है, यह मेरी समझमें ही नहीं आता।' आचार्यजी बोले—'अच्छा, संध्याको मन्दिरकी आरती समाप्त होनेके बाद आ जाना। केवल मैं रहूँगा।' पहलवानजी 'अच्छा' कहकर चले गये। श्रीरामानुजाचार्यजी मन्दिरमें गये, भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! आज एक अधमका उद्धार करो। एक बारके लिये उसे अपने त्रिभुवन-मोहनरूपकी एक हलकी-सी झाँकी दिखा दो।' इतने बड़े महात्माकी प्रार्थना खाली थोड़े

जाती। अस्तु,

संध्या समयको पहलवान आये। श्रीरामानुजाचार्यजी पकड़कर भीतर ले गये और श्रीविग्रह (मूर्ति) की ओर दिखाकर बोले—'देखो, ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है? पहलवानने दृष्टि डाली। एक क्षणके लिये जन-साधारणकी दृष्टिमें दीखनेवाली मूर्ति मूर्ति नहीं रही, स्वयं भगवान् ही प्रकट हो गये और पहलवान उस अलौकिक सुन्दरताको देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। बहुत देरके बाद होश हुआ। होश होनेपर श्रीरामानुजाचार्यजीके चरण पकड़ लिये और बोले—'प्रभो! अब वह रूप ही निरन्तर देखता रहूँ—ऐसी कृपा कीजिये।' फिर श्रीरामानुजाचार्यजीने उन्हें मन्त्र दिया। वे उनके बहुत प्यारे शिष्योंमें तथा एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए।

आज भी ऐसी घटनाएँ होती हैं, पर लोग जान नहीं पाते, यत्किञ्चित् जाननेपर भी अन्तःकरणकी मलिनताके कारण विश्वास नहीं कर पाते।

९७—सूरदासके पूर्वजन्मकी एक विचित्र बात आती है। उद्धव जब व्रजसुन्दरियोंको ज्ञान सिखाने गये थे, तब अन्तमें खूब फटकारे गये। वहाँ फिर गोपियोंने दिखाया कि देखो, श्यामसुन्दर यहाँसे एक क्षणके लिये भी नहीं गये हैं।' जब उद्धवने यह देखा, तब वे दंग रह गये। फिर चेष्टा की कि भीतर निकुञ्जमें प्रवेश करें। पर ललिताजीकी आज्ञासे रोक दिये गये। उद्धवने खीझकर शाप दे दिया कि जाओ मर्त्यलोकमें। ललिताजीने भी कहा कि तब तुम भी अंधे बनकर वहीं चलो। यह प्रेमका विनोद था। पर आखिर जबान तो उनकी सच होकर ही रहती थी। इसीलिये एक अंशसे ललिताजीने अवतार धारण किया तथा उद्धवने भी एक अंशसे सूरदासके रूपमें जन्म लिया।

ये ललिताजी अकबर बादशाहके यहाँ एक हिंदू बेगमके पास पलीं। बेगम उन्हें बहुत छिपाकर रखती थीं। पर एक दिन बादशाहने देख लिया। उसने जीवनभरमें ऐसी सुन्दरता देखी ही नहीं थी। बेगम उस लड़कीको बहुत प्यार करती थी तथा सचमुच अपनी लड़कीके समान ही मानती थी।

एक दिन बेगमने उस लड़कीसे कहा कि 'बेटी ! तू एक दिन मेरा शृङ्गार कर दे, क्योंकि तुझे जैसा शृङ्गार करना आता है, वैसा मैंने कभी नहीं देखा।' उस लड़कीने मामूली शृङ्गार कर दिया। बेगम बादशाहके पास गयी। उस दिन अकबरने बेगमको ऊपरसे नीचेतक देखा तथा उसके रूपको देखकर चकित हो गया। वह बोला—'बेगम ! आज तो मैं तुम्हें देखकर हैरान हूँ; सच बताओ, आज तुमने कोई जादू तो नहीं किया है।' अन्तमें बेगमने सच बता दिया कि 'मेरी एक बेटी है, उससे मैंने शृङ्गारके लिये प्रार्थना की। उसने मुझे मामूली ढंगसे सजा दिया। यदि मनसे सजाती तो पता नहीं क्या होता।' बादशाहके मनमें पाप आ गया। बेगम उसे लड़की मानती थी, पर बादशाहने एक नहीं सुनी। किंतु मनमें पाप आते ही अकबरके सारे शरीरमें जलन आरम्भ हो गयी। बड़े-बड़े हकीम उपचार करके हार गये, पर कोई भी लाभ नहीं हुआ। फिर बीरबलने कहा कि यह दैवी कोप है, किसी महात्माकी कृपाके बिना यह दूर नहीं होगा। उस समय सूरदास सबसे बड़े महात्मा माने जाते थे। वे बुलाये गये। सूरदासने कृपापरवश होकर जाना स्वीकार कर लिया। वे आये तथा अकबरको देखकर कहा—'तुम्हारे पापोंके कारण ही यह हुआ है। तुमने जिस बालिकापर बुरी दृष्टि की है, उसीके कारण यह हुआ है।' फिर सूरदासने कहा, 'अच्छा; तमाशा देखो।' उस बालिकाके पास खबर भेजी गयी कि एक सूरदास

आया है, वह बुलाता है। बालिका हँसी और राजसभामें पहुँची। दोनों एक-दूसरेको देखकर हँसे तथा बालिका देखते-ही-देखते अपने-आप जलकर खाक हो गयी। सबको बड़ा अचम्भा हुआ। अकबरने प्रार्थना की। उसीपर सूरदासने एक पद गाकर उसे सारा रहस्य बतलाया कि 'यह बालिका ललिताजीके अंशसे उत्पन्न हुई थी और मैं उद्धवके अंशसे।'

पता नहीं यह घटना कहाँतक सत्य है; पर सिद्धान्तः यह सर्वथा सत्य है कि दिव्यलोकके प्राणी एवं भगवान्‌की लीलाके परिकर इस युगमें भी अपने अंशसे भगवदिच्छासे प्रकट होते हैं। इसलिये यह कहा नहीं जा सकता कि किस वेशमें कौन है; सबको साक्षात् भगवान् मानकर सम्मान करनेमें ही लाभ है।

९८—जो ईमानदार नास्तिक होते हैं अर्थात् ठीक-ठीक जैसा भीतर मानते हैं वैसा ही कहते हैं, दम्भ नहीं करते, उनपर भगवान्‌की कृपा दाम्भिकोंकी अपेक्षा शीघ्र प्रकाशित होती है।

हालकी बात है। वृन्दावनमें एक महात्मा थे। वे इस समय हैं या नहीं पता नहीं। खूब भजन करते थे। पर पहले बहुत नास्तिक थे। कलकत्तेमें रहते थे। दलाली करते थे। श्रीकृष्णकी लीला एवं रासलीलाका मजाक उड़ाया करते थे, बुरी तरह नास्तिक थे। कलकत्तेमें किसीके घरपर रासलीला हो रही थी। वे भी मजाक उड़ानेके लिये देखने गये। रासलीला हो रही थी। कौन-सी लीला थी, यह मुझे याद नहीं है। मुझे एक अत्यन्त विश्वासी आदमीने सब बातें बतायी थीं। पर अब पूरी तरह याद नहीं है। जो हो, रासलीला देखते-देखते हठात् श्रीजी जो बने थे, उनकी जगह एक क्षणके लिये वास्तविक राधारानी प्रकट हो गयीं और केवल उन्हींको दर्शन हुए। बस, उसी क्षण सब

छोड़-छाड़कर वृन्दावन चले आये और माला फेरते रहे।

९९—वृन्दावनके वृक्षोंकी भी बड़ी विचित्र बात है। एक महात्माने अत्यन्त विश्वासपूर्ण स्वयं जाँच की हुई कई घटनाएँ हमको एवं भाईजीको सुनायी थीं।

एक पेड़ था। उसे काटनेकी तैयारी हुई। रातमें एक मुसलमान दारोगा (Sub Inspector) को स्वप्न हुआ कि देखो, 'मैं काशीमें एक विद्वान् ब्राह्मण था, बहुत तपस्या करनेपर मुझे व्रजमें पेड़ होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लोग कल मुझे काटनेकी तैयारी कर रहे हैं, तुम बचाओ। वह मुसलमान था, पर सब पता-ठिकाना—आदमीका नामतक स्वप्नमें बताया गया था। इसलिये उसे जाँचनेकी इच्छा हुई। जाँचनेपर सब बातें ज्यों-की-त्यों मिलीं। उसे पहले कुछ भी इस विषयमें ज्ञात नहीं था।

दूसरी घटना उन्होंने सुनायी थी—एक साधु जंगलमें एक लताके नीचे शौच होने जाते थे। वहाँ कुछ आवाज आती, पर वे समझ नहीं पाते। फिर उनको या शायद उनके साथीको स्वप्न हुआ या दर्शन हुआ—ठीक याद नहीं; जिससे पता लगा कि उस लताके रूपमें कहींकी एक चमारिनने बड़ी भक्तिसे उसके फलस्वरूप जन्म धारण किया था। उसने बताया कि 'तुम्हें स्त्रीके पास जाकर शौच होनेमें लाज नहीं आती? प्रतिदिन तुम्हें चेतावनी देती हूँ, पर तुम समझते नहीं। देखो, व्रजकी लता एवं वृक्षोंके नीचे शौच मत जाया करो।' भागवतमें तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही है कि यहाँके पेड़ प्रायः बड़े-बड़े ऋषि हैं, जो वृक्ष बनकर मेरा और श्रीबलरामजीका दर्शन करते हैं।

१००—व्रजमें अब भी बहुतोंको बहुत सुन्दर-सुन्दर अनुभव

होते हैं। एक साधु थे। भगवान्‌के दर्शनके लिये सब जगह घूमे, पर कहीं कोई अनुभव नहीं हुआ। सोचा, अब अन्तिम जगह गिरिराज चलें! वहाँ किसी-न-किसी रूपमें दर्शन देनेकी भगवान् अवश्य कृपा करेंगे। व्रजमें आये। न जान, न पहचान। एकादशीका दिन था। फलाहार कहाँ मिले? एक बालक आया। बोला, 'बाबाजी! मेरी माँ एकादशी करती है, ब्राह्मण जिमानेके लिये आपको बुला रही है!' बाबाजी गये, बुढ़ियाने प्रसाद बड़े प्रेमसे दिया। भरपेट खाकर फिर बोले—'वह बालक कहाँ गया माई?' बुढ़िया बोली—'बालक कौन?' वे बोले—'जो हमें लाया था।' बुढ़िया बोली—'मेरा न तो कोई लड़का है, न मैंने किसीको भेजा था। आप आ गये। मैंने अतिथि समझकर आपका सत्कार कर दिया।' ऐसी बहुत-सी घटनाएँ होती रहती हैं।

१०१—श्रीकृष्ण-कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वृन्दावनके पत्थर पिघल जाते थे। आप तो फिर भी मनुष्य हैं। किसी दिन कृपा करके यदि एक हलकी-सी स्वप्नमें झाँकी उन्होंने दिखायी तो बस, पागल होकर जीवनभर रोते ही रह जायँगे।

१०२—महाप्रभु संन्यासके बाद जब शान्तिपुरसे नीलाचल रहनेके लिये चलने लगे, तब सब कोई रो-रोकर बेहोश होने लगे। बड़ा विचित्र दृश्य था! सभी धूलिमें लोटकर छाती फाड़कर रो रहे थे। आँखोंसे आँसूका फव्वारा छूट रहा था। एक श्रीअद्वैताचार्य ऐसे थे कि उनकी आँखोंमें आँसू नहीं थे। ये अद्वैताचार्य कोई साधारण पुरुष नहीं थे। ऐसा इतिहास मिलता है कि चालीस-पचास वर्षतक लगातार इन्होंने तुलसी-गङ्गाजलसे भगवान्‌की पूजा की थी और केवल यही वर

माँगते रहे थे कि 'हे नाथ! जीवोंका दुःख देखा नहीं जाता, अवतार लेकर जीवोंको भक्त बनाओ और सबका दुःख मिटा दो।' कहा जाता है कि इनकी प्रार्थनासे ही चैतन्य महाप्रभुका अवतार हुआ था। सब रो रहे थे, पर इनकी आँखोंमेंसे आँसूकी एक बूँद भी नहीं निकली। महाप्रभु सबको छोड़कर आगे बढ़ गये। केवल अद्वैताचार्य पीछे चलते रहे। महाप्रभु सबसे अधिक इनकी बात मानते थे। महाप्रभुने कहा—'आचार्य! अब लौट जाइये।' अद्वैताचार्यने कहा—'प्रभु! साथ जानेके लिये नहीं आया हूँ, केवल यह कहनेके लिये आया हूँ कि मेरे-जैसा अधम प्राणी, पत्थरके हृदयवाला प्राणी, नीरस प्राणी संसारमें दूसरा आपको नहीं मिलेगा। आप देखिये, आपके जाते समय ऐसा कोई भी नहीं कि जिसकी आँखोंसे आँसूकी धारा न बह रही हो, पर मेरी आँखोंमें एक बूँद भी आँसू नहीं।'

चैतन्य महाप्रभु हँसे और बोले—'देखिये, आपको इसका रहस्य बता देता हूँ, मुझे आपसे काम लेना था। मैंने देखा कि सब लोग तो बेहोश होकर गिर जायँगे। कोई एक आदमी ऐसा चाहिये, जो सबको सम्हाल सके। इसलिये यह देखिये मैंने अपने कौपीनमें एक गाँठ बाँधकर आपके प्रेमको रोक रखा है। पर अब जब आप रोना चाहते हैं तो लीजिये, जी भरकर रो लीजिये।' यह कहकर महाप्रभुने गाँठ खोल दी। खोलते ही अद्वैताचार्य बेहोश होकर पछाड़ खाकर गिर पड़े और रोने लगे।

देखें, भगवान्‌की लीला कोई भी नहीं समझ सकता। पर यह ठीक है कि जो प्रेममें रोना चाहेगा, नहीं रोनेके कारण जिसके हृदयमें पीड़ा होती होगी, उसे भगवान्‌का प्रेम मिलेगा ही और वह रोयेगा ही। पर सम्भव है, उन्हें किसीसे कुछ काम कराना हो, कुछ लीला करानी

हो—इसके कारण ही हृदयको सूखा बनाये रखते हों। उनके रहस्योंको कौन जाने। मनुष्यको अपनी ओरसे एक ही काम करते रहना चाहिये—अत्यन्त प्रेमसे निरन्तर उनका स्मरण।

१०३—कुछ साल पहले एक प्रेमी सज्जन वृन्दावन गये थे। नावपर घूमते हुए वृन्दावनकी सैर कर रहे थे। वर्षाका मौसम था। यमुनाजीमें खूब पानी था। संध्याका समय था, इतनेमें खूब वर्षा हुई। टीले, जमीन, रास्ता दीखना बंद हो गया। नावसे उतरकर वे बिचारे अकेले एक किनारे जंगलके पास खड़े थे। इतनेमें देखा कि कुछ गायें आ रही हैं तथा दो बच्चे काली कमली ओढ़े हुए पीछे-पीछे आ रहे हैं। मुझे घटना ठीक-ठीक याद नहीं है। वे शायद रास्ता भूल गये थे। बच्चोंसे पूछा। एक बच्चा बड़ा सुन्दर था। मन बरबस उसकी ओर खिंचता चला जा रहा था। कुछ बात होनेके बाद उसने रास्ता बता दिया और आगे चलने लगा। ये पीछे-पीछे चले। उसने मना किया, पर ये माने नहीं। उसी समय गाय, बच्चे आदि सभी अन्तर्धान हो गये।

कहनेका भाव यह है कि भगवान्‌का दर्शन तो वे जब ठीक समझेंगे, आवश्यक समझेंगे, तब हो जायेगा। आपको तो केवल प्रेमपूर्वक भजन करते रहना चाहिये।

१०४—एक ब्राह्मण थे। ऐसी घटना हुई—एक सालके भीतर परिवारमें जितने थे, सभी मर गये, वे अकेले बच गये। श्राद्ध आदि करनेमें ऋण हो गया, मकान गिरवीं रखकर रुपया लिया। फिर एक जगह आठ-दस रुपये महीनेकी नौकरी कर ली, इसीसे पाँच-सात रुपये बचाकर किस्तका रुपया भरते जाते थे और बहुत कम खर्चमें काम चलाकर बिहारीजीके मन्दिरमें भजन करते रहते थे।

यह नियम है कि तमस्सुककी पीठपर किस्तका रुपया चढ़ा दिया

जाता है। पर उस महाजनके मनमें बेईमानी थी; वह मकान हड़पना चाहता था, इसीलिये चढ़ाता नहीं था। जब रुपया करीब सब भर गया, केवल आठ-दस रुपये बाकी बचे थे, तब उसने पूरे रुपयेकी सूदसहित नालिश कर दी। सम्मन आया, बिचारे ब्राह्मणदेवता बिहारीजीके मन्दिरमें बैठे थे। सुनकर बहुत दुःखी हुए, बोले—'मैंने तो सब रुपये भर दिये हैं, केवल आठ-दस रुपये बाकी हैं।' उसकी विकलता देखकर सम्मनवाले चपरासीको दया आ गयी। उसने कहा—'कोई गवाह है?' ब्राह्मणने कहा—'कोई नहीं।' वह बोला—'तो बड़ी दिक्कत है।' ब्राह्मण बोला—'हाँ, एक गवाह बिहारीजी हैं।' भगवान्‌की कुछ ऐसी लीला कि चपरासीकी समझमें यह आ गया कि सचमुच कोई बिहारीजी नामका एक व्यक्ति इसका गवाह है। उस चपरासीने जाकर मुन्सिफसे कह दिया कि 'हुजूर, ब्राह्मण ईमानदार है। महाजन बेईमान है। उस ब्राह्मणका एक गवाह है बिहारीजी। उसके नामसे सम्मन निकाल दें।' मुन्सिफ भी भला आदमी था। उसने सम्मन निकाल दिया। वही चपरासी फिर आया। ब्राह्मण वहीं बैठे थे। बोले, 'यहीं कहीं होगा। तुम यहीं-कहीं साटकर चले जाओ।' भगवान्‌की लीला थी। उसने समझा, क्या हर्ज है। लोगोंको पता था कि बिहारीजीका अर्थ ये बिहारीजी हैं। इसलिये सब लोग हँस रहे थे कि यह कितना मूर्ख है।

तारीख आयी। उसके पहले दिन रातमें ब्राह्मणने मन्दिरमें जाकर रहनेकी आज्ञा माँगी; पर पुजारी आदि तो हँसते थे। उसके बहुत रोनेपर उन सबने आज्ञा दे दी। वह रातभर रोता रहा। सुबह उसे नींद आ गयी। देखता है कि बिहारीजी आये हैं और कह रहे हैं—'रोते क्यों हो, तुम्हारी गवाही मैं अवश्य दूँगा।' नींद खुलते ही वह तो आनन्दमें

भर गया और उसे तनिक भी संदेह नहीं रहा। पूरा विश्वास था कि ये मेरी गवाही अवश्य देंगे।

लोगोंमें हलचल मच गयी। उसने कहा—'तुमलोग देखना मेरी गवाही बिहारीजी अवश्य देंगे।' बहुत-से आदमियोंने सोचा—चलकर कोर्टमें आज तमाशा देखेंगे। पर भगवान्‌की लीला! आँधी-पानी आ गया, फलतः बहुत कम आदमी जा सके, फिर भी कुछ-कुछ पुण्यात्मा भाग्यसे चले गये।

कोर्टमें मुन्सिफके सामने मामला पेश हुआ। मुन्सिफने पूछा—'गवाह आया है?' ब्राह्मण बोला—'हाँ, हुजूर! आया है।' चपरासीने आवाज लगायी—'बिहारी गवाह हाजिर हो!' पहली बार कोई जवाब नहीं, दूसरी बार कोई जवाब नहीं। तीसरी बार जवाब आया—'हाजिर है।' इतनेमें लोगोंने देखा एक व्यक्ति अपने सारे शरीरको काले कम्बलसे ढके हुए आया और गवाहके कटघरेमें जाकर खड़ा हो गया। उसने जरा-सा मुँहका पर्दा हटाकर मुन्सिफको देख लिया। बस, मुन्सिफके हाथसे कलम गिर गयी; वह एकटक कई मिनटतक उसकी ओर देखता रहा। उसकी ऐसी दशा हो गयी, मानो वह बेहोश हो गया हो।

कुछ देर बाद मुन्सिफ बोला—'आप इसके गवाह हैं?' वह काले कम्बलवाला बोला—'जी हाँ।' आपका नाम? 'बिहारी।' आपको मालूम है, इसने रुपये दिये हैं? इसपर बड़ी सुन्दर उर्दू भाषामें बिहारी गवाह बोले—'हुजूर! मैं सारे वाक्यात अर्ज करता हूँ।' इसके बाद बताना शुरू किया। अमुक तारीखको इतने रुपये, अमुक तारीखको इतने रुपये—तारीखवार करीब सौ तारीख बता दी। मुद्दईका वकील उठा और बोला—'हुजूर! यह आदमी है कि लायब्रेरी, कभी

आदमीको इतनी तारीख याद रह सकती है?' बिहारी गवाह बोले—'हुजूर! मुझे ठीक-ठीक याद है, जब यह रुपये देने जाता था, तब मैं साथ रहता था।' मुन्सिफ—'क्या रुपये बहीमें दर्ज हुए हैं?' बिहारी गवाह—'जी हाँ, सब दर्ज हुए हैं, पर नाम नहीं है। रोकड़-बहीमें उन-उन तारीखोंमें रकम जमा है, पर इसका नाम नहीं है। दूसरे झूठे नामसे जमा है।'

मुन्सिफ—'तुम बही पहचान सकते हो?'

बिहारी—'जी हाँ।'

मुन्सिफने उसी समय कोर्ट बर्खास्त किया और दो-चार चपरासियोंके साथ मुद्दईके मकानपर चला गया। साथ-साथ बिहारी गवाह थे। किसीने गवाहका शरीर नहीं देखा, केवल मुन्सिफने मुँह देखा था।

वहाँ पहुँचकर बिहारी गवाहने आलमारी बता दी। बहीका इशारा कर दिया कि उस बहीमें है। मुन्सिफने बही निकलवाकर मिलाना शुरू किया। गवाहने जो तारीखें बतायी थीं, उन्हीं-उन्हींमें उतनी-उतनी रकम दूसरे उचन्तके नामसे जमा थी। अन्तिम तारीख कई पन्नोंके बाद थी। पन्ने उलटनेमें देरी हो गयी। पर वह भी ठीक मिली। पर इतनेमें ही लोगोंने देखा कि बिहारी गवाहका पता नहीं। क्या हुआ, कहाँ गये, कुछ पता नहीं चला। मुन्सिफ कोर्टमें आया। मुकदमेको डिसमिस कर दिया और स्वयं त्यागपत्र लिखकर साधु हो गया। यह घटना कहीं शायद छपी भी है। सम्भव है, मुझे कुछ हेर-फेरसे सुननेको मिली हो। पर घटना सर्वथा सच्ची है तथा इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। यदि मनुष्यका भगवान्‌पर सच्चा विश्वास हो तो आज भी, ऐसी इससे भी अद्भुत घटना हो सकती है, होती है।

सांसारिक कार्योंमें सहायता देना और अपना प्रेम देना भगवान्‌के लिये तो दोनों ही समान हैं। असलमें भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं; उनसे हम जो चाहें, वही वे करनेको तैयार हैं। हाँ, चाह सच्ची और दृढ़ विश्वासयुक्त होनेसे ही काम होता है।

१०५—चटगाँवमें एक कृष्णानन्दजी साधु थे। उनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाका भाव था। उन्होंने पूजा करनेके लिये एक श्रीकृष्णकी पत्थरकी प्रतिमा मँगवायी। मँगानेपर उनको पसन्द नहीं आयी, बोले—'तुम गड़बड़ करते हो, यह नहीं चल सकती। मैं तुमको तीन दिनका समय देता हूँ, जो मूर्ति मेरे हृदयमें है, वही मूर्ति मुझे चाहिये। नहीं तो, तीन दिन बाद मैं तुम्हें गङ्गामें फेंक दूँगा।' भगवान्‌को तो विश्वास चाहिये। वे देखते हैं केवल सच्चा विश्वास। उनका विश्वास ठीक था। तीन दिनमें पत्थरकी वही मूर्ति बदलकर इतनी सुन्दर हो गयी कि क्या पूछना है। इस बार गोरखपुरमें उस मूर्तिके फोटोका हमने दर्शन किया था। ऐसा जान पड़ता है, मानो जीवित पुरुषका फोटो हो। ऐसे ही आपके ध्यानकी मूर्ति भी विश्वाससे साक्षात् बन सकती है।

१०६—भगवान्‌के विषयमें एक विलक्षण बात है। वह यह कि जो व्यक्ति जिस बातके लिये जिस रूपमें विश्वास कर ले कि भगवान् हमारे लिये यह इसी रूपमें कर देंगे, फिर निश्चय समझिये बिना कुछ भी किये भगवान् उसके लिये वही उसी प्रकार कर देंगे। यह नहीं कि भजन करो, स्मरण करो। केवल मनमें यह धारणा कर ले कि बस, भगवान् हमारे लिये तो यह कर ही देंगे। भगवत्प्रेमसे लेकर तुच्छ संसारके विषयोंतकके लिये यह नियम लागू है—सबके लिये लागू है।

कोई कहे कि 'अमुक कार्यमें आजतक तो ऐसा नहीं हुआ, क्या तुम्हारे लिये पहले-पहल होगा ?' इसका जवाब यह है कि यदि तुमने

सचमुच यह बात उनपर ढार दी है तो संसारके इतिहासमें पहले-पहल तुम्हारे लिये होगा और अवश्य होगा।

व्रजप्रेमका नियम है—अमुक बात होनेपर ही यह प्राप्त हो सकता है। पर यदि सचमुच उनपर कोई ढार दे कि हमें तो यह हुए बिना ही प्रेम देना पड़ेगा, तो ठीक मानिये, उसके लिये ही नया नियम बनेगा। ठीक उसकी मान्यताके अनुरूप नियम बनाकर भगवान् उसे व्रजप्रेमका दान कर देंगे।

१०७—जब दिव्य वृन्दावन-लीलाका प्रापञ्चिक जगत्में प्रकाश होता है, तब उसमें भी कई रहस्यकी बातें होती हैं। गत बार जो नन्द-यशोदा हुए थे, उनके विषयमें भागवतमें लिखा मिलता है कि वे दोनों तपस्यासे नन्द-यशोदा बने थे। होता यह है कि जो नित्य लीलावाले नन्द-यशोदा हैं, उन्हींका इनमें आवेश हो जाता है। भागवतकी यहाँवाली जो लीला है, वह भी सच्चिदानन्दमयी ही है; पर किसी-किसी अंशमें उसमें प्राकृत संयोग भी रहता है; क्योंकि यह लीला प्रकट ही इसलिये की जाती है कि इसके द्वारा और-और भक्तोंको इसमें शामिल किया जाय। जो नित्यलीला है, उसमें कंस आदिका वध नहीं होता। वह लीला सर्वव्यापक है, पर प्रत्येक द्वापरके अन्तमें उसी वृन्दावनके स्थानपर प्रकट होती है। वह लीला है तो यहाँ भी, इस कलममें भी है, विश्वके अणु-अणुमें है; पर प्रकट वहीं उस वृन्दावनमें हुआ करती है। नित्य लीलाके जो-जो पार्षद हैं, या तो उनका साक्षात् प्राकट्य होता है या यहाँके जीवोंमें उनका आवेश हो जाता है। श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ तथा नित्य सखा तो साक्षात् आते हैं तथा नन्द-यशोदा—ये दोनों भी कभी साक्षात् आते हैं; पर कभी उनका आवेश भी होता है। जैसे इस बार जो लीला हुई

थी, उसमें नित्य नन्द-यशोदाका तपस्यासे बने हुए नन्द-यशोदामें आवेश हो गया था।

असल बात तो यह है कि इसका तत्त्व समझना असम्भव-सा है; क्योंकि असली बात पूछें तो यह प्रश्न वहींतक बनता है जबतक वह लीला सामने नहीं आती। सामने आनेपर फिर उसके सिवा कुछ बच ही नहीं जाता। केवल वह लीला-ही-लीला रह जाती है। भगवान्‌की यही तो अचिन्त्य शक्ति है कि एक ही स्थानपर एक ही समय इतनी लीलाएँ चल रही हैं। जहाँपर आपको यह घड़ी दीख रही है, वहीं अनादिकालसे जो लीला हुई है, अनन्त कालतक जो होगी, वे सभी लीलाएँ वर्तमान हैं, क्योंकि वस्तुतः घड़ीकी जगह स्वयं भगवान् ही हैं और पूर्णरूपमें हैं। जबतक आपको घड़ी दीखेगी, तबतक भगवान् नहीं दीखेंगे और जब घड़ीका दीखना बंद हो जायगा और वहाँ भगवान् दीखेंगे, उस समय यह ज्ञान भी सर्वथा लुप्त हो जायगा कि यहाँ पहले घड़ी थी। यह घड़ीका दीखना एवं घड़ीका ज्ञान तो तभीतक है, जबतक भगवान् नहीं दीखते। उनके दीखनेपर तो वे-ही-वे रह जायँगे। इसी प्रकार उनकी कोई-सी लीला दीख जानेपर यह प्रश्न नहीं बनेगा कि कौन नित्य है और कौन पीछेकी है; क्योंकि असलमें तो जो कुछ भी है, वह सब भगवान् हैं, यह तो समझानेके लिये है। जबतक भगवान् नहीं दीख रहे हैं, तबतक भेदज्ञान—यह ऊँचा, यह नीचा, यह परेकी लीला, यह इधरकी लीला आदि विचार हैं।

आपने जो प्रश्न किया कि 'वे ग्वाले, जिन्हें ब्रह्माजीने छिपा दिया था तथा वे ग्वालबाल, जो स्वयं भगवान् ही बने थे—इन दो प्रकारके ग्वाल-सखाओंमें क्या भेद था ? तो वास्तवमें तो कोई भेद नहीं है; क्योंकि पहले भी स्वयं श्रीकृष्ण ही उतने ग्वाले बने हुए थे और फिर

ब्रह्माजीके ले जानेपर वे ही उतने और बन गये। इतना कहा जा सकता है कि पहलेवाले जो ग्वालसखा थे, उनमें कई साधनसिद्ध भी सखा थे, दूसरी बार ब्रह्माके ले जानेपर जो सखा प्रकट हुए, वे सब-के-सब स्वयं श्रीकृष्ण ही बने थे; सखाओंमें भी नित्यसखा एवं साधनसिद्ध सखा—ये दो भेद तो हैं ही। आज जिसने साधन किया और साधनसे भगवान्‌की नित्य-लीलामें सम्मिलित हुआ, वह साधनसिद्ध सखा माना जायगा। पर यह मानना भी हमारी-आपकी दृष्टिसे है; श्रीकृष्णकी दृष्टिसे तो स्वयं वे सदासे हैं और सदा रहेंगे।

यही उनकी विलक्षण, मन-बुद्धिसे अत्यन्त परेकी लीला है कि वे ही जीव, वे ही जगत्, वे ही जगत्‌के मालिक—तीनों बने हुए हैं; परंतु जबतक हम अपने-आपको अनुभव करते हैं तबतक यह ऊँच-नीचका भेद बना ही रहेगा। इसका रहस्य वाणी एवं मनसे समझा ही नहीं जा सकता।

शास्त्र एवं संत कहते हैं—जो है, भगवान् है; जो नहीं है, वह भगवान् है; तथा है, नहीं है—इन दोनोंसे परे भी भगवान्‌का रूप है, जो अनिर्वचनीय है। पर यह स्थिति भी तो वाणीमें आ गयी, इसलिये असली नहीं है। वह इतनी विलक्षण स्थिति है कि कुछ भी कहना नहीं बनता। यही बात दिव्यलीलाके रहस्यमें भी है। देखनेपर ही कोई यत्किञ्चित् समझ सकता है कि वह क्या वस्तु है।

सब भगवान् हैं, यही पहली स्थिति है—जो साधनासे प्राप्त होती है और तब फिर असली स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अनिर्वचनीय है।

बिलकुल कोई वस्तु भगवान्‌के सिवा है ही नहीं, यह ज्ञान जिसे है, और जिसे नहीं है, वे दोनों भी भगवान् ही बने हुए हैं। पर यह बात कही जाती है कि जबतक सुख-दुःख होता है, अहंकार है, तबतक साधना करो। परंतु यह अहंका, यह सुख-दुःख भी उन्हींका रूप है;

फिर साधना क्यों करें ? इसीलिये कि प्राणीकी इच्छा है कि मेरा दुःख मिट जाय।

१०८—मेरी राय तो यह है कि मनुष्य सृष्टितत्त्वका, भगवान्‌के लीला-तत्त्वका निर्णय करने, रहस्य समझनेके फेरमें न पड़कर सरल चित्तसे भगवान्‌का चिन्तन करे, साधनामें जुट जाय। बाह्य साधनाके अतिरिक्त मानसिक भगवत्सेवाकी साधनामें जुट जाय। नियम बाँध ले कि इतनी-इतनी सेवा तो करनी ही पड़ेगी। यदि यह नहीं हुआ तब तो फिर आज हमारा रातसे खराब दिन बीता। नहीं होनेपर कुछ प्रायश्चित्तका नियम ले ले, तब होगा।

व्रजप्रेमकी साधनाका जहाँ शास्त्रोंमें वर्णन है, वहाँ यह आता है कि साधकको स्वयं ठीक उसी प्रकारकी देहकी भावना करके चौबीसों घंटे वहीं साथ रहनेका ध्यान करना चाहिये। उसमें नियम बँध जाता है कि यह सेवा हमें करनी है। जैसे मान लें एक सेवा है—हाथ-पैर धुलाना। अब दिनभरमें न जाने कितनी बार इस सेवाका समय आयगा, उस समय तो मनको आना ही पड़ेगा। लगन होनेपर चाहे और सब काम बिगड़े, पर साधक उतनी देरके लिये चाहे बीस सेकण्ड ही क्यों न हो, सब काम छोड़कर जहाँ बैठा हुआ है, जो कर रहा है, सबको गौण करके ध्यानस्थ हो जायगा। अभ्यास होनेपर लोगोंको पता नहीं चलेगा। लिखते-पढ़ते, बातचीत करते हुए वह मन-ही-मन वहाँकी सेवा करते रह सकता है।

निरन्तर भगवत्सेवाकी मानसिक भावना करते रहनेसे मनकी क्या अवस्था होती है, यह कुछ इतनी विलक्षण बात है कि मेरा अनुमान है—आपने जो समझा होगा, उससे बिलकुल नयी बात है। उसकी कल्पना भी अभी नहीं हो सकती कि कैसे क्या-क्या होता है। वह तो

केवल वही जान सकता है, जो स्वयं इस ओर पैर बढ़ाये और श्रीकृष्णकी कृपाका आश्रय करके आगे पाँव रखता चला जाय; फिर सारी बात समझमें आती जायगी और बिलकुल ऐसी अवस्थाका ज्ञान होगा कि वह स्वयं केवल अनुभव कर सकेगा, दूसरोंको समझा नहीं सकेगा।

जैसे भी हो एक बार चेष्टा करके भगवान्‌की लीलामें मनको अच्छी तरह फँसा दें। जब मन टिकेगा, तब फिर स्वयं नयी-नयी चीजें, नये-नये दृश्य मनके सामने भगवान्‌की दयासे आने लग जायँगे। फिर यह आवश्यकता नहीं रहेगी कि किसीसे चलकर लीला सुनें। भगवान्‌की कृपासे स्वयं ऐसी विलक्षण-विलक्षण झाँकी—प्रेमसे भरी हुई झाँकी आयगी कि मन आनन्दमें डूबा रहेगा। केवल आप ही उसका आनन्द लेंगे, दूसरेको समझा भी नहीं सकेंगे। भगवान्‌की पूरी कृपा आपकी सहायता करेगी। जहाँ चेष्टा करने लगे कि नया-नया कुछ-न-कुछ दृश्य दिखा-दिखाकर वे मनको खींचने लगेंगे। आरम्भिक साधनामें किसी दिन तो बेगार-सा बड़ा बुरा मालूम होगा; क्योंकि मन भागना चाहेगा। पर यदि लगन रही तो फिर स्वयं मन लगने लग जायगा और फिर यह चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी कि चलो, पन्ना उलटकर लीला पढ़ें; अपने-आप ठीक समयपर वह फिल्मकी तरह माथेमें नाचने लग जायगी। कोई बात करेगा, उसके साथ गौणरूपसे बात भी कर लीजियेगा; पर मन भाग-भागकर वहीं चला जायगा। बिलकुल ऐसा हो जायगा मानो अपने-आप लीलाकी फिल्म आती चली जा रही हो, एक-पर-एक आती रहेगी। पर प्रारम्भमें थोड़ी साधना करनी पड़ेगी। फिर आगे चलकर सच मानिये, भगवान्‌की कृपासे आपके लिये यह बहुत ही आसान हो जायगा।

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

जगत्‌के भोगोंको बटोरना छोड़कर अपना मुँह भगवान्‌की ओर कर लें

सोना जितना तपाया जाता है, उतनी ही अधिक उसकी उज्ज्वलता बढ़ती चली जाती है, उसकी शोभा निखरती चली जाती है। वैसे ही हम विपत्तिकी आगमें जितना अधिक तपते चले जायँगे, उतना ही अधिक हमारे भीतर जो भगवान्‌का दिया हुआ तेज है, वह प्रकट होता जायगा, हमारी निर्मलताका सौन्दर्य सबकी आँखोंको आकर्षित करने लगेगा। किंतु हमें घबराहट होती है। विपत्ति आनेकी आशंकासे हमारी नींद उड़ जाती है। विपत्ति तो आयेगी पीछे और आयेगी कि नहीं तथा आयेगी भी तो किस रूपमें—भारी या हलकी बनकर आयेगी—ये सब तो पीछेकी बातें हैं। हम तो विपत्तिकी आशंकामात्रसे अधमरे-से हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसलिये कि जगत्‌में रचे-पचे रहकर, यहीं इसी जगत्‌के भोगोंमें ही निरन्तर सुख ढूँढ़ रहे हैं। पर यदि हम असली दृष्टिको अपना सकते—'हमें किधर जाना है', उसको याद कर सकते तो प्रत्येक विपत्ति—भारी-से-भारी विपत्ति—हमारे लिये स्वागतकी वस्तु बन जाती; विपत्तिकी आशंका हमारे मनमें उल्लासका, नवीन साहसका संचार कर देती।

किंतु अभी कुछ भी बिगड़ा नहीं है। सुबहका भूला हुआ यदि शामको भी घर पहुँच जाय, अथवा शामको भी घरकी ओर जानेवाली सड़कपर घरकी ओर मुँह करके दौड़ चले तो, बस, काम हो गया। वह तो घर पहुँच ही गया। और यदि सूर्य छिप गया है तो भी एक घड़ी रात जाते-न-जाते वह घर पहुँच ही जायगा; क्योंकि एक रक्षक उसके साथ छिपा हुआ निरन्तर चल रहा था, चल रहा है। जहाँ आवश्यकता होगी, वहीं वह उसे रोशनी दिखा देगा, अब आगे गड्ढेमें गिरनेसे बचा लेगा, जंगली जानवरोंको उसपर हमला नहीं

करने देगा, दौड़नेके कारण जब उसे प्यास लगेगी तो बड़ा ही सुखद ठंढा पानी पिला देगा और थकान बढ़ जानेपर जरा-सा उसे छू देगा तथा इतनेमें ही उसकी सारी थकावट दूर होकर उसमें नवीन स्फूर्ति, नया बल आ जायगा।

ठीक ऐसे ही, अभी हमारे पास थोड़ा समय बच गया है। हम जगत्‌के भोगोंको बटोरना छोड़कर अपना मुँह भगवान्‌की ओर कर लें, जो साधना संत-शास्त्र बताते हैं, उस पथपर चल पड़ें; तेजीसे दौड़ पड़ें तो सूर्य छिप भी गया तो अँधेरा होते-न-होते भगवान् हमें मिल जायँगे—जरूरत होते ही आवश्यकताभर प्रकाश हमें मिल जायगा; किसी भी पापके गर्तमें गिरनेसे बचा लिये जायँगे। हमें हानि पहुँचानेवाले हमारे पास फटकतक नहीं सकेंगे। कोई-सा दुःख—साधनके सम्बन्धको लेकर—होते ही हमें एक अद्‌भुत शान्तिका अनुभव करा दिया जायगा। और जब साधन-पथपर आगे बढ़नेमें असमर्थताका अनुभव करने लगेंगे तो उसी क्षण—एक प्रेमिल स्पर्शकी अनुभूति करा दी जायगी और हममें नया ओज, नयी ताकत आ जायगी।

दोषदर्शनकी वृत्तिको पूर्ण शक्ति लगाकर दबानेकी चेष्टा करें

जिस समय हम दूसरेका दोष देखने चलते हैं, उस समय हमें यह सोच लेना चाहिये कि हम अपने-आपको उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऊँचा और उस दोषसे शून्य अनुभव कर रहे हैं। यह ऐसी भ्रान्ति है, जो ऊँचे-से-ऊँचे साधकोंतकका पिण्ड नहीं छोड़ती। असली महा-सिद्धमें इस दोष-दर्शनकी वृत्तिका अत्यन्त अभाव होता है। और वह वृत्ति है इतनी गंदी कि साधकको परमार्थके साधनपथसे घसीटकर पीछेकी ओर नरकके गर्तमें प्रायः डाल ही देती है।

यह भी एक बड़े विचारनेकी बात है कि हम जिस दोषका दर्शन दूसरेमें कर रहे हैं, वह दोष यदि हममें नहीं होता, तो हमें वह दोष दूसरेमें

दीखता ही नहीं, यह ऐसा सत्य है कि जिसका खण्डन हो ही नहीं सकता। यद्यपि बुद्धिवाद तो परमार्थ-सत्यको छू ही नहीं सकता, किंतु बुद्धिवादके तर्कोंको भी आगे चलकर इस प्रश्नपर स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि हम जिस कूड़ेका अनुभव अन्यत्र कर रहे हैं, वह कूड़ा वस्तुतः हमारे ही अंदर है और उसीका प्रतिबिम्ब हम दूसरेपर डाल रहे हैं।

सामने एक व्यक्ति हमें दम्भी-पाखण्डीके रूपमें दीख रहा है। वहाँ सत्य तो यह है कि भगवान् विराजित हैं; किंतु उसके स्थानपर हमें अपने अंदर संचित कूड़ेका दर्शन हो रहा है। इतना ही नहीं, इस प्रकारके दर्शनकी प्रत्येक चेष्टा हमारे अंदर संचित कूड़ेके ढेरको निकालकर हमारे चारों ओर इकट्ठा कर देती है और इतनी दुर्गन्ध फैला देती है कि हम उस ओरसे आनेवाले भगवान्‌के सौरभको ग्रहण कर ही नहीं सकते। अपनी ही दुर्गन्धि हमें सत्यकी अनुभूतिसे दूर ले जाकर तरह-तरहका पाठ पढ़ा देती है और हम यह फतवा दे बैठते हैं कि 'अमुक तो ऐसा गंदा है, अमुक ऐसी गंदी है।' जिन्हें सत्यका अनुभव होता है, वे इस प्रकारका निर्णय कभी दे ही नहीं सकते; क्योंकि उनकी आँखमें बुरी-भली नामकी कोई भी वस्तु न रहकर एक भगवान्‌की सत्ता ही बच रहती है।

सच्चे संतके प्रति अपनी आसक्तिकी धाराको मोड़ दें

असली संतकी कोई बाहरी पहचान नहीं होती, किंतु जो सच्ची अभिलाषा लेकर भगवान्‌की ओर बढ़ना चाहता है, उसे भगवान् असली संतके पास पहुँचा ही देते हैं। स्वयं भगवान् ही संत बनकर उसके जीवनकी नाव पार लगाने आ जाते हैं। धोखा मनुष्यको वहीं होता है और इस कारणसे ही होता है, जहाँ अपना अहंकार लेकर मनुष्य चलता है और उनसे अपने मनकी इच्छाओंकी पूर्ति कराना चाहता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि उसमें भगवान्‌की प्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा नहीं है; क्योंकि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी अनन्य तथा

सच्ची लालसाका उदय होते ही तत्क्षण—तत्क्षण अन्य कोई भी कामना, जागतिक पदार्थकी उपलब्धिकी रञ्चकमात्र भी इच्छा रह ही नहीं जायगी और न अपनी विद्या-बुद्धिपर तथा अपने अंदर अच्छेपनका गर्व ही रहेगा। जहाँ ये दोनों चीजें हैं, वहाँ भगवान् तमाशा देखते हैं। अन्यथा, प्रथम तो उसे ले ही नहीं जायँगे, जहाँ वह मायाके प्रवाहमें फिर पड़ सकता है। और तो क्या, इसके लिये नवीन प्रारब्धका निर्माणतक हो जाता है। इसे भगवत्कृपाजनित प्रारब्ध कहते हैं और यह भगवत्कृपाजनित प्रारब्ध बीचमें ही, कर्मजनित प्रारब्धको स्थगित करके, फलोन्मुख होकर असली संतके सम्पर्कमें ला ही देता है, जहाँ उनसे कभी धोखा होगा ही नहीं; और यदि कोई बुरे प्रारब्धवश ऐसे संयोगमें आ गया है तो उसकी अवश्य-अवश्य रक्षा कर ही लेंगे वे; किंतु करेंगे उसीकी, जिसमें एकनिष्ठ भगवत्प्राप्तिकी लालसा है और जो सच्ची-सच्ची दीनता लेकर चला है, चल रहा है।

ऐसा भी देखा जाता है कि असली संतके सम्पर्कमें आनेपर भी उनके निमित्तसे तो नहीं, अन्यके निमित्तसे पतन हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसके तीन-चार कारण हैं। पहला यह है कि उस मनुष्यकी भगवत्प्राप्तिकी लालसा वैसी ही है, जैसे हम प्रदर्शनीमें गये और वहाँ चीजें खरीदने लगे—एक बढ़िया साड़ी खरीदी, दूसरी हाथी-दाँतकी एक चीज खरीदी, तीसरी अमुक, चौथी अमुक चीज—इस प्रकार सत्तानबे चीजें तो खरीदीं भोग-विलासकी और अट्ठानबे, निन्यानबे और सौवीं वस्तु खरीदीं—एक तुलसीकी माला, एक भजनकी पोथी और एक भगवान्‌का कोई चित्र, सो भी मनमें यह सोचकर कि हम अमुक संतके पास रहने लगे हैं, यदि ये तीन चीजें नहीं रखेंगे तो नक्कू बनेंगे; क्या कहेंगे वे लोग, जो उन संतके पास रहते हैं ? और जीवनमें अपना उद्धार कर लेना भी तो आवश्यक चीज है ही, इस दृष्टिसे भी एक सौमें

तीन ऐसी चीज तो अपने पास जरूरी है ही। ठीक उसी प्रकार संतके, असली संतके पास रहकर भी हमारे मनमें भगवत्प्राप्तिकी लालसा इसी औसतकी प्रायः रहती है। दूसरा कारण है, मनमानी करनेकी प्रवृत्ति, संतकी आज्ञाओंका पूरा-पूरा निरादर करना और तीसरा कारण है, उनसे भी कपट करने लग जाना, उन्हें भी ठगनेकी-सी वृत्तिको अपना लेना। यदि ये तीनों कारण हमारे अंदर, हमारे लिये बिलकुल ही लागू नहीं पड़ते तो किसी भी असली संतके सम्पर्कमें जानेके अनन्तर, अन्य किसीके निमित्तसे हमारा पतन नहीं होगा, नहीं होगा।

इसपर प्रश्न हो सकता है तो फिर क्या किया जाय ? तो इसका उत्तर है कि संतका ही संग करें, बस, सच्चे अर्थमें संतका ही अवश्य-अवश्य संग करें। संगका अर्थ होता है—आसक्ति। हम किसी सच्चे संतके प्रति आसक्ति कर लें। असली संत किसे माना जाय ? संसारमें जिस व्यक्तिमें हमें दैवी सम्पदाके अधिक-से-अधिक गुण अभिव्यक्त दीखें, विकसित दीखें तथा जिनके संगसे हमारे अंदर दैवी सम्पदाके गुण विशेषरूपसे बढ़ने लगें—उन्हींको हम असली संत मान लें और उनकी शरणमें जाकर उनके प्रति ही अपनी आसक्तिकी धाराको मोड़ दें। किंतु मोड़ सकेंगे तभी—जब हम अपने जीवनको इस साँचेमें ढालनेके लिये प्रस्तुत होंगे—

१-अपनी जानमें भगवत्प्राप्तिकी लालसाके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंको सर्वथा विसर्जित करनेकी पूरी-पूरी चेष्टा करें।

२-इस प्रयासमें असफल होनेपर उनसे—चाहे, वह कामना कैसी भी हो—उनसे ही, लाज-संकोच छोड़कर बता दें। किंतु उन्हें बाध्य करनेकी भूल न करें। उनपर ही छोड़ दें; वे पूरी करें तो ठीक, नहीं तो ठीक। पर फिर उसके लिये दूसरेके आगे हाथ न पसारें।

३-उनकी प्रत्येक आज्ञाके पीछे, प्रत्येकके पालनमें पूरी-पूरी

तत्परतासे काम लें। किंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि असली संत कभी भी असद्-रूपात्मक आज्ञा देते ही नहीं। कभी हमें यह दीखे कि यह आज्ञा तो असत्-प्रेरणात्मक है तो उसका पालन कदापि न करें। वे उसके न पालनसे ही वस्तुतः प्रसन्न होंगे—यदि वे असली संत हैं तो।

४-मनमानी चेष्टा—साधनात्मक या व्यावहारिक—बिलकुल न करें; जो भी करें, उनसे पूछकर करें।

५-उनसे कभी भी—स्वप्नमें भी, जाग्रत्की तो बात ही क्या है—कोई-सा, तनिक भी कपट न करें, न करें।

एक बात और याद रखनी चाहिये—असली संत पागल कुत्तेकी तरह होते हैं। पागल कुत्तेके काटनेपर उसके विषका असर तुरंत नहीं होता—उसके लिये कुछ समय अपेक्षित होता है। वैसे ही यदि तनिक-सी भी श्रद्धा लेकर, कभी भी, एक बार भी हम उनके दृष्टि-पथमें आ गये हैं तो उन्होंने भी अपनी अहैतुकी कृपासे परिपूर्ण आँखरूपी दाँतोंको हमारे तनमें, इन्द्रियोंमें, मनमें, बुद्धिमें, अहंतामें गड़ा ही दिया है। पागल कुत्तेका काटा हुआ व्यक्ति कालान्तरमें कुत्तेकी भाँति 'हू-हू' करने लगता है—यहाँ तो इसका इलाज भी सम्भव होता है। किंतु असली संतकी आँखोंसे निकलकर कृपाभरे दाँत जिसको छू गये हैं—वह देर-सबेर—संत बनकर ही रहेगा।

संतकी सात्त्विक आज्ञाओंके पीछे प्राणतक विसर्जन करनेके लिये प्रस्तुत रहें

जिसपर भगवान्की कृपाका प्रकाश हो जाता है, उसीको विशुद्ध सच्चे संतके दर्शन होते हैं, उसीको वे मिलते हैं। किंतु कभी-कभी ऐसा भी हो ही जाता है, नहीं-नहीं, प्रायः ऐसा ही हो जाता है कि जैसे किसी साग बेचनेवालीको हठात् कोई अनमोल हीरा मिल जाय, वैसे ही कोई हठात्—बिना किसी प्रयासके, किसी परम विशुद्ध सच्चे संतके सम्पर्कमें आ जाय।

हम शायद सोच सकते हों कि 'मुझे तो परम विशुद्ध सच्चे संत अवश्य मिल गये हैं और मैं—मैं तो साग बेचनेवालीकी श्रेणीमें कदापि नहीं हूँ' जो अनमोल, कभी नहीं देखे हीरेकी कीमत नहीं जानती; मैं तो संत-महिमाको जानता हूँ, उसका उपभोग करता हूँ, संतका आदर करता हूँ; मेरा जीवन तो उसके लिये ही, उनपर ही न्योछावर हो चुका है।' बस यहीं—यदि हमारे मनमें, स्वप्नमें भी ऐसी विचारधारा चल पड़ती है तो यह हमारा नितान्त भ्रम है। इस भ्रमको हम जितना शीघ्र सर्वथा परित्याग कर देंगे—उतनी ही शीघ्रतासे हमारे श्रेयका मार्ग प्रशस्त होकर भगवान्‌के सच्चे प्रकाशका हमें अवश्य-अवश्य शीघ्र-से-शीघ्र साक्षात्कार होकर ही रहेगा।

सच तो यह है कि जिसे सचमुच परम विशुद्ध संत मिल जाते हैं, जो तनिक भी उनकी महिमाका ज्ञान रखता है, उनकी महिमाका तनिक भी उपयोग अपने जीवनमें करता है—चाहे लचड़-पचड़ विश्वासके साथ ही तनिक भी, किंतु सच्चे अर्थमें उनपर न्योछावर हो जानेकी लालसा जिसमें जाग उठी है—उसे संत भगवान्‌से भी अधिक प्रिय लगने लगते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ है, उसके जीवनमें तो या तो उसे असली परम विशुद्ध संत मिले ही नहीं हैं या वह है उसी श्रेणीमें—बस, उस साग बेचनेवालीकी श्रेणीमें ही, जिसने प्रकाश देनेवाला एक पत्थरका टुकड़ा समझकर हीरेको लेकर—उस अनमोल हीरेको अपने घर लाकर ताखेमें रख दिया है। उसने भी संतको एक बड़ा ही सज्जन व्यक्ति समझकर अपने मनरूपी घरके किसी कोनेमें स्थान दे रखा है—संत-मिलनका अर्थ उसके जीवनमें इतना ही है।

परम विशुद्ध संतकी महिमा अपार है; हम अपनी कुतर्ककी बुद्धि लेकर उसे समझ ही नहीं सकते। उसके लिये आवश्यकता होती है—एक बार विश्वासका पथ अपनाकर चलनेकी, उनके पीछे-पीछे कदम

बढ़ानेकी। पीछे-पीछेका अर्थ है—उनकी रुचिकी दिशामें, उनकी रुचिको देखकर, उसे ही अपनाकर चलना। यहाँ तो हमारी दशा है उस राहगीरसे भी गयी-बीती, जो जिस-किसीसे भी राह पूछ लेता है और विश्वास करके, निश्चिन्त होकर उस राहपर बढ़ता ही चला जाता है। उसके मनमें यह संशय नहीं जागता कि राह बतानेवाला मुझे धोखा दे रहा है। वह राहगीर ठीक-ठीक—रास्तेका मोड़ आनेपर पूछ ही लेगा किसीसे और सीधे जाना है कि बायें कि दाहिने मुड़ना है—यह पता लेकर बतानेवालेकी आज्ञाका अनुसरण करता है। हम तो पद-पदपर अपनी मनमानी करते हैं। संतके बार-बार मना करनेपर भी पापके गर्तमें गिरनेकी दिशामें ही पैर बढ़ाते हैं और कहीं गिर भी चुके हैं, तो भी संतके अतिशय प्यारसे मना करनेपर भी, उनकी छोटी-से-छोटी, सुगम-से-सुगम आज्ञाका निरादर करके मुँह किये रहते हैं पतनके गड्ढेकी ओर ही। तनिक भी पश्चात्ताप नहीं अपनी भूलपर, और तुर्रा यह कि संतमें ही दोष दीखता है हमें। परम विशुद्ध संतसे मिलनेका प्रायः इतना ही अर्थ है जन-साधारणके जीवनमें आज।

किंतु इससे परम विशुद्ध संत बिलकुल ही नाराज नहीं होते। उनकी कृपाका प्रवाह वैसे ही चलता ही रहता है पीछे-पीछे और एक क्षण जीवनमें ऐसा आयेगा ही—हो सकता है, वह क्षण आये ठीक मृत्युके बिन्दुपर ही—जिस क्षण हमारे जीवनकी धारा मुड़ेगी ही प्रभुकी ओर—संत-मिलन, विशुद्ध संत-मिलनकी अमोघता, उनकी कृपाके प्रवाहकी अव्यर्थता व्यक्त होकर ही रहेगी—**'मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'**—यह सत्य होकर ही रहेगा। भले ही जगत् इसे, इस अद्भुत चमत्कारको, परमार्थिक सत्यको न जान पाये, बुद्धिवादीके लिये यह हास्यास्पद ही बना रहे, किंतु सत्य तो सत्य ही रहता है। सत्य किसीकी मान्यताकी अपेक्षा नहीं रखता।

अतएव हम जिसे संत मान चुके हैं, उनकी सात्त्विक आज्ञाओंके पीछे अपने प्राणतक भी विसर्जित करना पड़े, इसके लिये भी सच्चा साहस बटोरकर अपने जीवनकी गाड़ीको आगे बढ़ाते चले जायँ। हमें भगवान्‌का प्रकाश मिलेगा ही।

भगवान्‌की रुचि हमें जैसी प्रतीत हो, उसका हम आन्तरिक उल्लाससे स्वागत करें

संतोंकी बाहरी चेष्टाको, चेष्टाके सच्चे अर्थको समझ लेना आसान काम नहीं है। मन शुद्ध हुए बिना अटकल-पच्चूपनेका निर्णय प्रायः गलत ही होता है और कहीं हम उसकी नकल करने चलें—तो सब समय नकल करना प्रथम तो सम्भव ही नहीं है और यदि आगे-पीछे सोचे बिना कभी साहस बटोरकर कर बैठें—तब आगे चलकर, अथवा तुरंत ही प्रायः पछताना पड़ता है। इसलिये सावधान रहना चाहिये।

एक संत थे। नदी पार कर रहे थे नावसे। नदीका प्रवाह बहुत चौड़ा था। जब नाव ठीक बीचमें आयी तो मल्लाह चिल्ला उठा—'राम ही बचावें, बहुत जोरका तूफान आ रहा है!' धारा बड़ी तेज थी, अपनी पूरी शक्ति लगाकर मल्लाह डाँड़ खे रहा था। थोड़ी ही देरमें तूफान आ गया, अभी सैकड़ों गज दूर थी नाव किनारेसे। संतके अतिरिक्त पंद्रह-बीस यात्री और थे उस नावपर। तूफानका वेग बढ़ता ही गया; मल्लाहकी शक्ति समाप्त-सी होने लगी डाँड़ खेते-खेते। पुकार उठा मल्लाह—'नाव डूबती दीखती है, भगवान्‌को याद कीजिये आपलोग; अब वे ही बचा सकते हैं।' डरके मारे सभी पुकारने लगे भगवान्‌को, किंतु वे संत तो बड़े ही विचित्र निकले। उन्होंने क्या किया कि अपना कमण्डल उठाया और नदीमेंसे जल भर-भरकर नावमें डालने लगे—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, बस, डालते ही जा रहे थे। सबको अपनी जानकी पड़ी थी। 'त्राहि, नाथ!' सभी पुकार रहे

थे। संतकी ओर देखकर भी यात्री उन्हें इस चेष्टासे रोकनेसे रहे। मल्लाहसे नहीं रहा गया। संतोंका भक्त होनेपर भी वह बोल ही उठा—'महाराज ! नावमें पानी डाल-डालकर और जल्दी इसे क्यों डुबाना चाह रहे हो ?' पर कौन सुने, संतने तो और भी शीघ्रतासे पानी डालना जारी रखा। दो-तीन मिनट बीतते-न-बीतते मल्लाह चिल्ला उठा—'महाराजजी ! अब भगवान्‌की कृपा तो ऐसी दीखने लगी कि नाव किनारे लग सकती है, किंतु आप तो इसमें पानी भरकर डुबानेपर ही तुले हुए हो।' 'हैं ऐसी बात है'—कहकर संतने अब नावके भीतर जो पानी ये डाल चुके थे, उसे बाहर कमण्डलुमें भर-भरकर फेंकने लगे। पानीसे वे लथपथ हो रहे थे, पर भीतरका पानी अब बाहर फेंकते ही जा रहे थे। लोगोंने समझा—'संत पागल है।'

आखिर नाव किनारे लग ही गयी। यात्री भी उतरे। मल्लाह श्रद्धालु था। किसी भी संत-महात्मासे उसने उतराई ली ही नहीं थी। गरीबोंको वह यों ही पार कर देता था। याचनातक उसने नहीं की थी किसीसे भी उतराईकी उसने अपने जीवन भर। लोग जो देते थे, उसीसे उसका जीवन चलता था। अस्तु ! उसके मनमें आया संत पागल होंगे, किंतु नाव तो पार लगी है इनकी उपस्थितिके कारण। उसने डाँड़ फेंककर संतके चरण पकड़ लिये और पूछ बैठा—'महाराज ! आपने ऐसा क्यों किया ? पहले तो पानी भीतर डाल रहे थे, फिर बाहर डालने लगे।' संत हँसे और बोले—"देखो, मेरी नकल तो मत करना और मैं जो कह रहा हूँ, उसे समझनेकी चेष्टा करना। तुमने कहा—'नाव डूबने जा रही है।' तुम्हारी बात सुनकर मेरे मनमें आया कि 'प्रभुकी इच्छा है कि नाव डूब जाय, फिर मेरे लिये क्या कर्तव्य है ? नाव डूबे या बचे, इससे मेरे लिये कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, किंतु मेरा तो कर्तव्य यही है कि उनके—प्रभुके परम मङ्गलमय विधानमें मेरे द्वारा

सहयोगका दान हो जाय। बस, मैंने कमण्डलु उठाया और पानी डालने लगा—दूसरे शब्दोंमें मेरा प्रयास नावको डुबानेकी दिशामें रहा, या हुआ, या दीखा। और फिर जैसे ही तुमने यह बात कही कि 'नावके बचनेकी आशा है' बस, उसी क्षण मेरा प्रयास नावको बचानेकी दिशामें चल पड़ा—यह जानकर कि 'प्रभु नावको बचाना चाह रहे हैं।' बस, प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छामें अपनी इच्छा मिला दिया करो। इसका यह अर्थ तुम मत मान लेना कि कोई मरता हुआ दीखे तो किसी वैद्यके घरसे लाकर उसे जहर खिला दो। इसका अर्थ इतना ही है कि 'भगवान्‌की रुचि तुम्हें जैसी प्रतीत हो, उसका तुम आन्तरिक उल्लाससे स्वागत करो।' तुम जिस दिन सच्चे संत बन जाओगे, उस दिन तो तुम्हारे अंदर कोई संकल्प ही नहीं रहेगा, कोई कामना ही नहीं रहेगी; तुम्हारे द्वारा स्वाभाविक परम मङ्गलमयी चेष्टा ही निरन्तर होती रहेगी। उससे पहले तुम्हें चाहिये कि जो भी फलरूपमें तुम्हें प्राप्त हो, उसका आन्तरिक उल्लाससे स्वागत करो। प्राणोंका उल्लास लेकर मन-ही-मन पुकार उठो—'प्रभो! तुम्हारी मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण हो।' सारांश यह है कि तुम छोटी बातोंके लिये तो कहना ही क्या है, अपनी, अपने साथियोंकी मृत्युकी सम्भावना दीखनेपर भी व्यावहारिक जगत्‌में उससे बचने-बचानेके लिये सात्त्विक उपायोंका आश्रय तो ले लो, पर भयभीत मत होओ; अपितु परम उल्लासके साथ मृत्युका स्वागत करना सीखो—'मृत्युके रूपमें भगवान् ही आ रहे हैं, तुम्हारा मङ्गल करनेके लिये'—इसे इतने उल्लाससे अपने जीवनमें मूर्त कर लो मानो मृत्युको तुम निमन्त्रित कर रहे हो, मेरी तरह डूबती हुई नावमें पानी डालनेकी भाँति।''

इतना कहकर संत चले गये। इस कथासे हमें यह भी सीखना चाहिये कि हम जिन्हें संत मानते हों, उनकी चेष्टामें गुण-दोष न देखकर, भूलकर भी उनकी नकल न करके उनकी सात्त्विक आज्ञाओंके

पालनमें जुटे रहें, तभी संतका असली संग हमारे द्वारा होगा।

भगवान्‌की यश-कथाके श्रवणका अद्भुत प्रभाव हमारे जीवनमें क्यों नहीं व्यक्त होता—विश्लेषण और निदान

असली संतकी कोई-सी बात किसी दिन किसी क्षण मनमें उतर जाती है, उसपर पर्वतकी तरह अचल विश्वास हो जाता है और जीवनके उस साँचेमें ढलते देर नहीं लगती। और यह हुआ कि भगवान् तो उसका स्वागत करनेके लिये पहलेसे ही तैयार खड़े रहते हैं, वह व्यक्ति देखते-देखते निहाल हो जाता है, कृतार्थ हो जाता है।

पढ़ना-लिखना बुरा नहीं है, पढ़-लिखकर विवेकका उपयोग करना ही चाहिये, सत्साहित्यका अनुशीलन करके जीवनको आगे बढ़ानेमें, भगवान्‌की ओर मोड़नेमें जागरूक होना ही चाहिये, किंतु जो पढ़ाई-लिखाई, जो विवेक, जो साहित्य हमारी सरलताका हनन करके पद-पदपर हमें संशयालु बना देता है, संत-जगत्‌के प्रति अनास्था उत्पन्न करा देता है—सम्पूर्ण संत-जगत्‌को हमें ढोंगियोंसे ही भरा दिखलाने लग जाता है—वैसी पढ़ाई-लिखाई, वैसा विवेक, वैसा सत्साहित्य तो जनसाधारणका कल्याण करनेसे रहा। मस्तिष्क-प्रधान और हृदय-प्रधान—बस, ये ही दो वर्ग जनसाधारणके बनते हैं। इन्हींको परमार्थमें हम बुद्धिमार्गका साधक और विश्वासमार्गका साधक कहकर पुकारते हैं।

बहुधा प्रश्न होते हैं—'असली संतके मुँहसे निकली हुई भगवत्कथाको सुननेपर उसका क्या प्रभाव पड़ता है? उसका कैसा अद्भुत प्रभाव पड़ना चाहिये? और जैसा प्रभाव पड़ना चाहिये, वैसा श्रोताओंपर क्यों नहीं पड़ता? और यदि पड़ता भी है तो वह स्थायी क्यों नहीं होता?' इन प्रश्नोंका सीधा उत्तर यह है कि भगवान्‌की कथा सुननेका प्रभाव तो व्यक्त होकर ही रहेगा, संतके मुँहसे निकली हुई भगवद्-यश-कथा अपना जादू दिखलाकर ही रहेगी। भगवत्कथा

सुननेका प्रभाव, एक बार ही सुननेका प्रभाव यह होता है कि फिर संसार इस रूपमें नहीं रह जायगा। 'घर-द्वार सब छूट जायगा, हमारे सम्बन्धीजन रोते-बिलखते रह जायँगे और फिर हम उन्हें नहीं मिलेंगे, हम कपड़ा रँगकर साधु-संन्यासी ही बन जायँगे।' यह मतलब नहीं है; किंतु यह अवश्य है कि यह संसार मनसे तो सचमुच-सचमुच निकल ही जायगा। फिर हमपर असर ही नहीं पड़ेगा इस संसारके किसी चढ़ाव-उतारका। अभी तो हमारी यह दशा है कि क्षुद्र-से कारण भी क्षण-क्षणमें हमारे मनका नक्शा पलटते रहते हैं और फिर भी हम कहते हैं कि हमें रामायणकी कथा, भागवतकी कथासे बढ़कर अधिक प्रिय कोई वस्तु है ही नहीं। यह 'आत्मवञ्चना' है। यदि हम आत्मशोधन करें तो स्वयं पता लग जायगा कि इसे 'आत्मवञ्चना' कहना सोलह आना ठीक है कि नहीं।

भगवत्कथाके इस माहात्म्यको ध्यानमें रखकर इसपर ध्यान देते हुए यदि हम कहीं कथा सुनने जायँगे तो एक-दो बार ही जानेकी जरूरत होगी। फिर तो जीवन भगवान्‌की ओर ऐसा मुड़ेगा कि हम स्वयं ही दंग रह जायँगे। अतिशयोक्ति नहीं है, कोई करके देखना चाहे तो साहस बटोरकर देख ले सकते हैं। किंतु सोडावाटरके जोशकी तरह साहस न बटोरें, लहराते हुए समुद्रकी तरह साहस लेकर आगे कदम बढ़ायें। समुद्र वहीं रहता है, लहरा उठता है बड़े वेगसे; किनारा ऊँचा रहनेपर टकराता है, उससे बार-बार घंटोंतक और फिर मानो थककर पीछेकी ओर हट जाता है। किंतु कुछ ही घंटोंके लिये पीछे हटता है। 'वह तो आयेगा ही, उसी दिन ही एक सुनिश्चित अवधिके अन्तरमें अवश्य आयेगा—किनारेको मानो डुबा देनेके लिये।' ऐसा साहस लेकर जायँ—पीछे पछतानेकी मनोवृत्तिको सर्वथा सदाके लिये जलाञ्जलि देकर, ठंढे पड़ जानेकी आदतको आगमें जलाकर।

× × × ×